# अंग्रेजी हटाओ : क्यों और कैसे?

अंग्रेज गये, अंग्रेजी जाय।

अंग्रेजी की साजिश गहरी।
संसद और अदालत बहरी।।

काम करे ना, गिटपिट बोले।
चिकना पहने, नखरे तोले।।

अंग्रेजी का पलटो पासा।
चले देश में देसी भाषा।।

अंग्रेजी की क्या पहचान।
भारत माँ की कटी जुबान।।

अंग्रेजी में काम न होगा।
फिर से देश गुलाम न होगा।।

अंग्रेजी को मत अपनाओ।
भारत माँ की शान बढ़ाओ।।

अंग्रेजी का बोले बोल।
लोकतंत्र की खोले पोल।।

अंग्रेजी की क्या पहचान।
शेखी, नफ़रत और अपमान।।

अंग्रेजी हटाओ, देश बचाओ।

डॉ० वेदप्रताप वैदिक

# अंग्रेजी हटाओ : क्यों और कैसे?

डॉ. वेदप्रताप वैदिक

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

अगर इस पुस्तक से कोई आय होगी
तो उसका उपयोग अंग्रेजी हटाओ आंदोलन
के प्रचार-प्रसार के लिए होगा।

लेखक

प्रकाशक

★

प्रकाशक • प्रभात प्रकाशन
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६
सर्वाधिकार • सुरक्षित
संस्करण • १९९३
मूल्य • आठ रुपए
मुद्रक • ग्राफिक वर्ल्ड,
दरियागंज, नयी दिल्ली

आइ एस बी एन 81-7315-062-1

# आग की तरह...

ऐसा लगता है कि 'अंग्रेजी हटाओ' का विचार देश में दावानल की तरह फैल रहा है। शुद्ध विचार की पुस्तक का बार-बार छपना और हजारों की संख्या में बिकना अपने आप में अपूर्व है।

यह पुस्तिका पहली बार १९७३ में छपी थी। 'अंग्रेजी हटाओ' भाषणों के इस छोटे-से संग्रह की दस हजार प्रतियाँ हाथोंहाथ बिक गई थीं। इसके कई अनुवाद भी उस समय हुए थे। लेकिन उन सबकी प्रतियाँ लगभग अनुपलब्ध हो गई थीं।

इस बीच प्रभात प्रकाशन ने पहल की और १९८८ में इस पुस्तक का उन्होंने दूसरा संस्करण छापा। पहला संस्करण इंदौर से छपा था और दूसरा दिल्ली से। दिल्ली से छपा यह संस्करण देश के कोने-कोने में पहुँच गया। जहाँ एक किताब पहुँचती, वहाँ से सैकड़ों किताबों की माँग आ जाती। अब हाल यह है कि हर चार-छह माह में हजारों प्रतियोंवाले नए संस्करण छपते जा रहे हैं। इस पुस्तक का मलयालम, मराठी और गुजराती अनुवाद लोगों ने अपने आप कर दिया है। वे स्वयं ही इसे छाप भी रहे हैं।

इसके प्रकाशक का कहना है कि वह दिन दूर नहीं जब इस पुस्तिका की एक लाखवीं प्रति पाठकगण तक पहुँचेगी। वह दिन हिंदी प्रकाशन व्यवसाय का उल्लेखनीय दिन होगा।

मुझे खुशी तब होगी जबकि इस पुस्तक के पढ़नेवाले सारे देश में जबर्दस्त आंदोलन खड़ा कर देंगे। क्रांतिकारी विचारों को लिख देना और पढ़ लेना ही काफी नहीं है। उन्हें अमल में लाना सबसे ज्यादा जरूरी है।

वेदप्रताप वैदिक
ए-१९ प्रैस एनक्लेव
नई दिल्ली-११००१७
दूरभाष : ६६७२९५

इस पुस्तक के प्रेरणा-स्रोत
महर्षि दयानंद,
महात्मा गांधी
और
डॉ. राममनोहर लोहिया
के श्रीचरणों में
सादर समर्पित

# 'अंग्रेजी हटाओ' का मतलब

अंग्रेजी हटाओ का मतलब यह कतई नहीं है कि हमें अंग्रेजी से नफरत है। किसी भी भाषा या साहित्य से कोई मूर्ख ही नफरत कर सकता है। यदि कोई स्वेच्छा से अंग्रेजी या दुनिया की अन्य भाषाएं पढ़ना चाहे, उनके माध्यम से ज्ञान का दोहन करना चाहे तो हमें प्रसन्नता ही होगी। लेकिन आपत्ति तब उपस्थित होती है जब ज्ञान के एक साधन को रुतबे का, विशेषाधिकार का, शोषण का हथियार बना लिया जाए।

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन अंग्रेजी का नहीं, बल्कि उसके रुतबे का, विशेषाधिकार का, उसकी शोषणकारी प्रवृत्ति का विरोधी है। इसलिए हमने कहा "अंग्रेजी हटाओ"। हमने यह कभी नहीं कहा कि 'अंग्रेजी मिटाओ'।

अब सवाल यह है कि अंग्रेजी कहां से हटे? न्यायालय से हटे, राज-काज से हटे, कारखानों से हटे, फौज से हटे, अस्पताल से हटे, पाठशाला-प्रयोगशाला से हटे, घर-द्वार-बाजार से हटे। हट कर कहां जाए? पुस्तकालयों में जाए, विदेशी भाषा-शिक्षण संस्थानों में जाए। वहां भी सारी जगह घेरकर पसरे नहीं। दुनिया की अन्य भाषाओं के लिए भी थोड़ी-थोड़ी जगह खाली करे। हटना उसे सभी जगह से पड़ेगा। कहीं से थोड़ा, कहीं से ज्यादा।

लुधियाना के कुछ प्राध्यापक बन्धुओं ने मुझसे कहा कि 'अंग्रेजी हटाओ' में से निषेधात्मकता की गंध आती है। यह 'निगेटिव' नारा है। मैंने पूछा, अहिंसा क्या है, अस्तेय क्या है, अपरिग्रह क्या है, अद्वैत क्या है? क्या ये सब निषेध के सिद्धान्त नहीं हैं? महात्मा गांधी का 'असहयोग' क्या था? इन्दिरा गांधी का 'गरीबी हटाओ' क्या था? क्या ये नारे निषेधात्मक नहीं थे?

निषेध से डरिए मत। सृष्टि के नियम को समझिए। बिना ध्वंस के निर्माण नहीं हो सकता। छोटा-सा मकान भी बनाना हो तो नींव खोदनी पड़ती है। जो खुदाई के डर से नींव नहीं डालता, उसके मकान का अन्जाम क्या होगा? वही होगा जो पिछले चालीस वर्षों में हिन्दी का हुआ। हिन्दी वाले लोग अंग्रेजी को हटाये बिना हिन्दी को लाना चाहते थे। नतीजा क्या हुआ? अंग्रेजी अपने स्थान पर जमी रही और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में एक नकली लड़ाई चल पड़ी।

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन इस नकली लड़ाई का विरोध करता है। वह समस्त भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी के वर्चस्व के विरुद्ध एक सशक्त चट्टान की तरह खड़ा करना चाहता है। जब तक अंग्रेजी नहीं हटती, भारतीय भाषाएं एक नहीं होंगी।

# हिन्दी लादने का विरोध

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन और हिन्दी चलाओ आन्दोलन में भी बुनियादी फर्क है। हिन्दी आन्दोलन वाले लोग चाहते हैं कि अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ले ले! उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं है कि अंग्रेजी की तरह हिन्दी भी शोषण का, विशेषाधिकार का और रुतबे का हथियार बन सकती है। अगर हिन्दी के आने का नतीजा यह हो कि अन्य भाषावालों के लिए नौकरियों का, अवसरों का, आगे बढ़ने का मार्ग दुर्गम हो जाए तो फिर हिन्दी को लाने से फ़ायदा क्या हुआ? वह भी अंग्रेजी की तरह देश में गैर-बराबरी को बढ़ाएगी। फर्क इतना होगा कि आज अंग्रेजी के कारण जहां दो प्रतिशत लोग सारे देश को रौंद रहे हैं, वहां ४० प्रतिशत लोग बाकी ६० प्रतिशत लोगों के साथ अन्याय करेंगे। हम हर अन्याय के विरुद्ध लड़ना चाहते हैं, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। मैं नहीं चाहता कि मेरी मातृभाषा वही घिनौना कार्य करे जो कि अंग्रेजी कर रही है। इसीलिए हम सारे देश में हिन्दी को थोपने के विरोधी हैं।

इसका मतलब यह नहीं है कि हमने सारे देश को जोड़नेवाली भाषा के सवाल पर विचार नहीं किया है। सारे देश को जोड़ने वाली भाषा कोई भी भारतीय भाषा हो सकती है। लेकिन इस काम के लिए हिन्दी सबसे अधिक अनुकूल भाषा होगी क्योंकि किसी भी एक भाषा की तुलना में इसके बोलने वाले सबसे ज्यादा हैं, इसकी लिपि — देवनागरी — सरल और वैज्ञानिक है तथा यह भाषा भारत के सबसे बड़े इलाके में बोली जाती है। जहां तक हिन्दी देश की सारी भाषाओं को जोड़ती है, वहां तक हिन्दी को लाने में हमें कोई एतराज नहीं है। लेकिन हिन्दी अन्य भाषाओं का हक मारे, यह उचित नहीं है।

हर प्रदेश में, उस प्रदेश की भाषा पूरी तरह से चलनी चाहिए। केन्द्र में भी प्रदेशों से आनेवाले लोगों को अपनी-अपनी भाषा के जरिए नौकरी पाने, संसद में बोलने, न्याय पाने और शिक्षा पाने का पूरा अधिकार होना चाहिए। उन्नति के अवसरों में हिन्दी को आड़े नहीं आना चाहिए। हिन्दी का काम केवल विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच सम्पर्क स्थापित करना है। केन्द्रीय सरकार और केन्द्रीय संस्थानों का अपने तईं सारा काम-काज केवल हिन्दी में चल सकता है, चलना चाहिए। लेकिन प्रदेशों से उनकी भाषा में आने वाले पत्रों को केन्द्र के द्वारा न केवल स्वीकार किया जाना चाहिए बल्कि उन्हीं की भाषा में उन पत्रों का जवाब दिया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति, संस्था या प्रादेशिक सरकार को इसलिए घाटे में नहीं रखा जाना चाहिए कि वह हिन्दी में प्रवीण नहीं है।

इस कार्य को कम खर्चीला और सुगम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हर सरकारी विभाग के साथ कुछ अनुवादक संलग्न कर दिए जाएं। ऐसे अनुवादक भी हो सकते हैं, जो कि तीन-तीन, चार-चार, पांच-पांच भाषाएं एक साथ जानते हों। इन अनुवादकों पर होनेवाला खर्च अनिवार्य अंग्रेजी को चलाए रखने के लिए होने वाले खर्च से निश्चित रूप से कम होगा।

सोवियत संघ और यूरोप के उन देशों में जहां अनेक भाषाएं बोली जाती हैं, वहां ऐसा ही किया जाता है। कोई भी देश अनुवाद के खर्चे के डर से किसी विदेशी भाषा को अपने आप पर नहीं लादता। देशी भाषाओं की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एक होने के कारण उनमें परस्पर अनुवाद करना इतना सरल होता है कि कुछ ही वर्षों में बहुत से लोग अपने आप कई भाषाएं सीख जाते हैं और फिर अनुवादकों की जरूरत नहीं रहती, जैसा कि स्विटजरलैंड और यूगोस्लाविया में हुआ है।

इस बात पर यह आपत्ति की जा सकती है कि सरकार अपना समय राज-काज में लगाए या वह इन भाषाओं के चक्कर में पड़ जाए। मैं पूछता हूँ कि अगर जनता से सीधे उसकी जुबान में उसका दुःख दर्द नहीं सुनोगे और सीधे उसकी जुबान में उसकी समस्याओं का समाधान नहीं दोगे तो अच्छा और सच्चा राज-काज कैसे चलाओगे? नकली समस्याओं और उनके नकली समाधानों का राज-काज तो इस देश में पिछले चालीस साल से चल ही रहा है।

अगर आप देश के एक औसत आदमी को यह विश्वास दिलाएंगे कि बड़े से बड़े स्तर पर भी उसकी भाषा को नीचा नहीं देखना पड़ेगा तो काम-चलाऊ हिन्दी सीखने में उसे जरा भी एतराज नहीं होगा। आज दक्षिण का आदमी हिन्दी का विरोध क्यों करता है? सिर्फ इसलिए कि उसे डर है कि उसकी नौकरियाँ चली जाएंगी। वह अवसरों की दौड़ में पिछड़ जाएगा। हिन्दी आन्दोलन ने 'हिन्दी' 'हिन्दी' चिल्लाकर इस डर को बढ़ाया है। इस डर को पुख्ता तौर पर खत्म किया जाना चाहिए। यह डर तभी खत्म होगा जबकि अंग्रेजी हटेगी। अंग्रेजी हटेगी तो उत्तर भारत के लोग दक्षिण की भाषाएं सीखेंगे। अंग्रेजी रहती है तो उत्तर भारत के लोग सोचते हैं कि तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम सीखकर क्या करेंगे? अंग्रेजी में ही बात कर लेंगे। इसी प्रकार दक्षिणवाले भी सोचते हैं। जब अंग्रेजी में काम चलता है तो हिन्दी क्यों सीखें? इस प्रकार अंग्रेजी की कृपा से उत्तर-दक्षिण के बीच सच्चा मेल-मिलाप ही नहीं होता।

अंग्रेजी के जरिये जो नकली मेल-मिलाप होता है, वह भी कितने लोगों का? २ प्रतिशत लोगों का भी नहीं। इन्हीं २ प्रतिशत लोगों का काम चल रहा है। बाकी ९८ प्रतिशत लोगों का काम ठप्प है। उनके जीवन में अंधेरा ही अंधेरा है। अंधेरेवाले लोगों में दक्षिण और उत्तर की सभी साधारण जनता शामिल है। अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन देश के करोड़ों लोगों को अंधेरे से उजाले की ओर ले जाना चाहता है। वह उत्तर और दक्षिण में, पूरब और पश्चिम में कोई भेद नहीं करता। उसके लिए सारे देश की गरीब, ग्रामीण, दमित, पीड़ित, विपन्न जनता एक है। वह इस सामान्य जनता की भाषाओं को आगे लाना चाहता है और एक छोटे-से-छोटे आदमी के दिल में भी यह अहसास पैदा करना चाहता है कि वह अपनी भाषा के जरिए बड़े-से-बड़े पद पर पहुँच सकता है।

## मानव मात्र की मुक्ति

इसी आधार पर मैं कहता हूँ कि अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन मनुष्य मात्र की मुक्ति का आन्दोलन है। पृथ्वी के किसी भी हिस्से पर यदि किसी भी मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति का गला घोंटा गया तो अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन चुप नहीं बैठेगा। इसीलिए इस आन्दोलन ने तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान में बांग्ला का, श्रीलंका में सिंहली और तमिल का, अफगानिस्तान में पश्तो और फारसी का, तन्जानिया में स्वाहिली का और उरुग्वे में गोरानी भाषा का सदा समर्थन किया है।

हमने यह कभी नहीं कहा कि हम इंग्लैंड से अंग्रेजी हटाना चाहते हैं लेकिन हम यह जरूर चाहते हैं कि वहाँ वेल्श और आयरिश लोगों को अपनी भाषाओं का प्रयोग करने दिया जाए। हम यह भी नहीं चाहते कि अमरीका से अंग्रेजी हटे लेकिन हम यह अवश्य चाहते हैं कि प्यूरटोरिकी और इतालवी लोगों पर अंग्रेजी थोपी नहीं जाए। यह संयोग की बात है कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी एक दमनकारी भूमिका अदा कर रही है। उसके स्थान पर फ्रांसीसी, फारसी, हिस्पानी, डच आदि कोई भी भाषा हो सकती थी। जो भी होती, हम उसका उतना ही डटकर विरोध करते, जितना कि अंग्रेजी का कर रहे हैं।

दूसरे शब्दों में, अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन का लक्ष्य किसी भाषा-विशेष के विरुद्ध हाथ धोकर पीछे पड़ जाना नहीं है बल्कि उस दमनकारी प्रवृत्ति का विरोध करना है जिसके कारण एक छोटा सा तबका अपने स्वार्थों के लिए करोड़ों लोगों के हितों को हानि पहुँचाता है और इस निकृष्ट कर्म को करने के लिए भाषा को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है।

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन किसी राजनैतिक दल-विशेष का आन्दोलन नहीं है। इसमें सभी दलों, सभी तबकों, सभी विचारों, सभी उपासना पद्धतियों, सभी प्रान्तों और सभी भाषाओं के लोगों का स्वागत है। इसके द्वार सभी के लिए खुले हैं। जो चाहे सो आये।

□

# अंग्रेजी क्यों हटायें?

भारत से अंग्रेजी को हटाने का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उन तर्कों की चीर-फाड़ की जाये जो अंग्रेजी को बनाये रखने के पक्ष में दिये जाते हैं।

## विश्व-भाषा होने का भ्रम

यह कहा जाता है कि यदि हिन्दुस्तान से अंग्रेजी चली गई तो सारी दुनिया से भारत का सम्पर्क टूट जाएगा। अंग्रेजी ऐसी खिड़की है जिससे झाँककर भारत दुनिया की तरफ देखता है। अंग्रेजी विश्व-भाषा है। अंग्रेजी को हटाने वाले लोग भारत को एक संकुचित देश बना देंगे, एक बन्द देश बना देंगे।

इस प्रकार का तर्क वही लोग देते हैं, जिन्होंने इंग्लैंड और अमरीका के अलावा कोई दूसरा देश देखा तक नहीं है या अपने जीवन में अंग्रेजी के अलावा कोई भी अन्य विदेशी भाषा पढ़ी तक नहीं है। बेचारे कुए के मेंढ़क की दुनिया आखिर कितनी बड़ी होगी? कुए से बाहर निकले तो दुनिया का कुछ पता भी चले। हिन्दुस्तान का एक औसत पढ़ा-लिखा आदमी अंग्रेजी तालीम की देन है। पिछले दो सौ साल से वह अंग्रेजी के कुए में पड़ा-पड़ा टर्रा रहा है। उसे पता नहीं कि इस कुए के बाहर फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी, चीनी, हिस्पानी, जापानी और फ़ारसी आदि भाषाओं की एक समृद्ध और रंग-बिरंगी दुनिया भी बसी हुई है।

अंग्रेजी के प्रति एकांगी प्रेम का परिणाम यह हुआ कि भारत अपने पुराने मालिक इंग्लैंड से और उसके नये उत्तराधिकारी अमरीका से (एक पिछलग्गू की हैसियत में) काफी अच्छी तरह से जुड़ गया लेकिन बाकी दुनिया से उसके सीधे रिश्ते कायम नहीं हो पाये। अंग्रेजों के कुछ पुराने गुलाम देशों जैसे पाकिस्तान, बर्मा, लंका, घाना आदि तथा जहाँ अंग्रेज जाकर बस गये, ऐसे देशों जैसे अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि को छोड़कर दुनिया के किसी भी देश में अंग्रेजी का इस्तेमाल नहीं होता। और पुराने गुलाम देशों में भी अंग्रेजी का इस्तेमाल सिर्फ नौकरशाह और अंग्रेजी तालीम-याफ्ता लोग करते हैं। उनकी संख्या प्रायः २ प्रतिशत से भी कम होती है। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी को विश्व-भाषा कहना तथ्यों को झुठलाना है।

अंग्रेजी को विश्व-भाषा मान लेने का दुष्परिणाम यह हुआ कि दुनिया के हर देश के साथ हम अंग्रेजी में व्यवहार करते हैं, चाहे उसकी भाषा जर्मन हो, रूसी हो, चीनी हो या फारसी! हर रोग का हमारे पास एक ही इलाज है, जमालगोटा! इसी का नतीजा है कि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित जब राजदूत का पद ग्रहण करने रूस गईं तो उनके अंग्रेजी में लिखे परिचय-पत्र को स्तालिन ने उठाकर फेंक दिया और पूछा कि क्या आपकी अपनी कोई भाषा नहीं है? इसी का परिणाम है कि जिन देशों में हमारे राजदूतों को नियुक्त किया जाता है, वे उन देशों की भाषा नहीं सीखते और अंग्रेजी में काम चलाने की असफल कोशिश करते रहते हैं। उस देश के राजनीतिज्ञ क्या सोचते हैं, उस देश की जनता का विचार-प्रवाह किधर जा रहा है, उस देश के अखबार

क्या लिख रहे हैं, यह हमारे राजदूतों को तभी पता चल सकता है और जल्दी और ठीक-ठीक पता चल सकता है जबकि वे स्थानीय भाषाएँ जानते हों।

प्रायः होता यह है कि या तो वे दुभाषिये के जरिये सूचनाएँ और गुप्त जानकारियाँ इकट्ठी करते हैं या तब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं जब तक कि लन्दन और न्यूयॉर्क के अंग्रेजी अखबार उन्हें पढ़ने को न मिलें। घटनाएँ हंगेरी और चेकोस्लावाकिया में घटें, उनकी आंख के सामने घटें और बुदापेस्त और प्राहा में बैठे हमारे राजदूत उन घटनाओं पर तब तक अपनी रपट नई दिल्ली नहीं भेजें जब तक कि उन्हें 'लन्दनिया' विवरण प्राप्त नहीं हो तो इससे बढ़कर विडम्बना क्या होगी? ऐसा इसलिए होता है कि वे भाषायी तौर पर अपाहिज है। वे अंग्रेजी की बैसाखी के सहारे चलते हैं। नकली बैसाखियाँ असली पैरों से भी अधिक प्यारी हो गई हैं। जो कौम बैसाखियों पर चलती है, वह हजार साल की यात्रा के बावजूद भी स्वयं को उसी स्थान पर खड़ा हुआ पाती है, जहाँ से उसने पहला कदम उठाया था।

अंग्रेजी को विश्व-भाषा मानने के भ्रम के कारण हमारे देश के बौद्धिकों को दुनिया में क्या चल रहा है, इसका पता बहुत देर से चलता है। और कभी-कभी गलत ढंग से पता चलता है। उसका कारण हमारा अंग्रेजी पर निर्भर रहना है। लातीनी अमरीका में यदि कोई क्रांति होती है तो उसे हम बोलिविया या क्यूबा से निकलनेवाले हिस्पानी अखबारों के द्वारा नहीं जानते बल्कि अंग्रेजी भाषा के विदेशी समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं के द्वारा जानते हैं। जब तक अंग्रेजी अखबार उन घटनाओं की रपट नहीं छापें, हम अज्ञान में रहने के लिए विवश हैं, क्योंकि अंग्रेजी के चक्कर में हिन्दुस्तान का आदमी हिस्पानी या गोरानी भाषा तो सीखता नहीं है। इसके अलावा विदेश का अंग्रेजी अखबार जब लातीनी अमरीका या किसी अन्य देश की खबर छापता है तो उसे अपने देश के हित के मुताबिक तोड़ता-मरोड़ता है।

चीन के बारे में हमारे देश में बहुत-सी गलतफहमियाँ क्यों फैलीं? इसी कारण कि हम चीनी अखबार और पत्रिकाएँ तो पढ़ते नहीं; हाँ, चीन के बारे में लन्दन और न्यूयॉर्क के अखबार जो कुछ छापते हैं, उसे हम ज्यों का त्यों निगल जाते हैं। अंग्रेजी के एकाधिकार के कारण सारी दुनिया को हमें अमरीकी या ब्रिटिश चश्मा चढ़ाकर देखना पड़ता है। हमारी अपनी स्वतंत्र और निष्पक्ष राय किसी भी मामले पर बन नहीं पाती। जब दुनिया के देशों के बारे में मिलने वाली हमारी मूलभूत सूचनाएँ ही रंगी-पुती होती हैं तो हम एक साफ-सुथरी विदेशी नीति कैसे बना सकते हैं?

अंग्रेजी को विश्व-भाषा मानने का एक नतीजा यह भी होता है कि हम यह समझने लगते हैं कि दुनिया का सारा ज्ञान अंग्रेजी में है जबकि कई ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें दुनिया की अन्य भाषाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं, अनुसंधान हुए हैं। हम उन सबसे या तो वंचित रह जाते हैं या उन्हें अंग्रेजी अनुवाद के जरिये ही पढ़ते हैं। आज विज्ञान की जितनी पुस्तकें रूसी भाषा में हैं, दुनिया की किसी भाषा में भी नहीं हैं। जर्मन भाषा में जितने ऊँचे स्तर के दार्शनिक हुए हैं — कान्ट, हीगल, मार्क्स जैसे — अंग्रेजी भाषा में नहीं हुए। दुनिया के बड़े-बड़े अखबार जापानी और रूसी भाषा में निकलते हैं — असाई शिम्बून और प्रावदा, न कि अंग्रेजी में।

कला, संगीत, चित्रकारी, पुरातत्व आदि विषयों पर आज भी फ्रांसीसी भाषा में जितना गहन और प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, उसकी तुलना में अंग्रेजी साहित्य पासंग के बराबर भी नहीं है।

दुनिया के इतिहास को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली पुस्तकें — वेद, बाइबिल, कुरान, धम्मपद, जिन्दावेस्ता, दास कापीटल आदि — भी अंग्रेजी में नहीं लिखी गईं। लेकिन जिन लोगों के दिमाग पर अंग्रेजी का भूत सवार है, उनके लिए ये सारे तथ्य निरर्थक हैं। उनको खेत और खलिहान में कोई फर्क दिखाई नहीं पड़ता। उनके लिए चर्चिल अगर अंग्रेज था तो नेपोलियन भी अंग्रेज ही होगा। ग्लेडस्टोन अगर अंग्रेजी बोलता था तो लेनिन भी अंग्रेजी ही बोलता होगा। जॉन स्टुअर्ट मिल अगर अंग्रेजी में लिखता था तो प्लेटो और अरस्तू भी अंग्रेजी में ही लिखते होंगे। दुनिया का सारा ज्ञान, साहस, शौर्य, प्रतिभा सब कुछ अंग्रेजी में है, ऐसा सोचने वाला दिमाग एक छोटा और संकुचित दिमाग है। वह विश्व-स्तर पर सोचनेवाला दिमाग बन ही नहीं सकता।

जो विश्व के साथ खुला सम्पर्क रखना चाहता है, उस दिमाग की सिर्फ एक खिड़की ही खुली नहीं होगी, सिर्फ अंग्रेजीवाली खिड़की। अंग्रेजीवाली खिड़की खुली रहे, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन क्या एक अच्छे मकान में सिर्फ एक ही खिड़की होती है? मकान वह अच्छा होता है, जिसमें कई खिड़कियाँ हों। चारों तरफ से खुली हवाएँ आयें। अगर एक खिड़की से बदबू आ रही हो तो दूसरी खिड़की भी खोली जा सके। लेकिन हिन्दुस्तान की भाषा के भवन में हमारे समझदार शासकों ने सिर्फ एक ही खिड़की बनाई है। उस खिड़की से अच्छा दृश्य दिखता हो या बुरा, सुगंध आती हो या दुर्गंध, उसे हमें खोले रखनी पड़ेगी।

मजबूरी इतनी ही नहीं है, इससे भी ज्यादा है। इस भवन में न केवल एक ही खिड़की है बल्कि कोई दरवाजा भी नहीं है। बिना दरवाज़े के मकान में कोई सभ्य आदमी कैसे रह सकता है? वह मकान भी क्या मकान है, जिसमें आने-जाने के लिए बन्दरों की तरह खिड़की से कूदना-फांदना पड़े। लेकिन हमारे शासकों ने सारे हिन्दुस्तान को पिछले चालीस साल में बंदरी सभ्यता में ढालने का प्रयत्न किया है। केवल अंग्रेजी के जरिये ही हम दुनिया को जान सकते हैं, केवल अंग्रेजी के जरिये ही भारत में कोई ऊँचा पद प्राप्त कर सकते हैं। अपनी भाषा के दरवाजे से हम न तो दुनिया तक जा सकते हैं और न ही अपने देश की ऊँची मंजिलों पर पहुँच सकते हैं। ऊँची मंजिलों पर पहुँचना तो दूर रहा, इस देश में हिन्दी का टाइपिस्ट बनने के लिए भी अंग्रेजी जानना जरूरी है।

एक खिड़की वाले मकान, मकान क्या कोठरी; इस एक खिड़कीवाली कोठरी में पनपी हुई बन्दरी सभ्यता के कारण देश का प्रमुख बौद्धिक वर्ग नकलची बन गया है। उसकी धारणाएँ, उसके अभिमत, उसकी विश्व-दृष्टि पश्चिमी साहित्य निर्धारित करता है। उसका अपना मौलिक चिन्तन कुंठित हो गया है, उसकी सृजन शक्ति को लकवा मार गया है। यदि पश्चिमी विशेषज्ञ भारत को 'पिछड़ा' राष्ट्र कहते हैं तो हमारे विशेषज्ञ भी तोते की तरह उसी बात को दोहराते हैं। आजकल अमरीकी विशेषज्ञों ने भारत को 'नया राज्य' कहना शुरू किया है। उनकी देखा-देखी भारतीय नकलची विद्वान भी भारत को 'नया राज्य' कहने लगे हैं। उन्हें क्या यह पता नहीं है

कि जब पृथ्वी पर अमरीका नाम की कोई चीज नहीं थी और लन्दन में जंगली कबीले जानवरों की तरह मार-धाड़ करते घूमते थे, उस समय भी याने आज से लगभग २ हजार साल पहले भी भारत में विक्रमादित्य की शानदार राज्य-व्यवस्था चल रही थी और चाणक्य जैसे महान राजनीतिज्ञ ने राज्य-व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए 'अर्थशास्त्र' नामक अद्वितीय ग्रन्थ की रचना की थी?

यह सब जानते हुए भी हमारे विद्वानों को दर्शन में, इतिहास में, अर्थशास्त्र में, राजनीतिशास्त्र में पश्चिमी शब्द-रचना को स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि उनका सारा चिन्तन और चिन्तन को निर्मित करने वाली अधिकांश सूचनाएँ पश्चिम से आती हैं, सिर्फ अंग्रेजीवाले देशों से आती हैं। यह नहीं हो सकता कि वे अंग्रेजी चिन्तन-पद्धति को स्वीकार करें और उससे निकले हुए कुछ खतरनाक शब्दों या खतरनाक धारणाओं को मानने से इन्कार कर दें। जो गुड़ खाता है, उसे गुलगुले खाने ही पड़ेंगे।

हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवी अगर अंग्रेजी को गुड़ की तरह खाये तो शायद उसे वह पचा भी ले, लेकिन उसे वह अफीम की तरह खाता है। अफीम उसके लिए ब्रह्म है। सार्वभौम सत्य है। एकोऽहं द्वितीयो नास्ति! दूसरा सब कुछ मिथ्या है। इसका नतीजा यह होता है कि वह आलसी और कामचोर बन जाता है। वह हमेशा दूसरे के बनाए गुरों और सूत्रों पर अपना जीवन चलाना चाहता है। वह पिछलग्गू बन जाता है। अपना मार्ग स्वयं नहीं खोजना चाहता! अपना दीपक स्वयं नहीं बनना चाहता। उसकी सृजनशील, आलोचनात्मक बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है। वह दुनिया की विभिन्न भाषाओं और साहित्यों से सामग्री का आकलन करके, उसमें से दाने और भूसे को अलग-अलग करने की क्षमता नहीं रखता। उसका क्षीर-नीर विवेक समाप्त हो जाता है। इसीलिए पिछले दो सौ सालों से हमारे विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का घोटा लगाया जाने के बावजूद भी आज तक कोई शेक्सपियर, कोई मिल्टन या कोई वर्ड्सवर्थ पैदा नहीं हुआ! शेक्सपियर को तो जाने ही दीजिए, वह तो ५००० साल भी घोटा लगाते रहें तो पैदा नहीं हो सकता। शेक्सपियर या तुलसीदास या सूर या कालिदास जैसे गुलाब अपनी जमीन, अपनी आबो-हवा, अपनी भाषा में ही खिलते हैं।

हाँ, जिसे आप 'विश्व-भाषा' समझते हैं, उसमें क्लर्क खूब पैदा किये जा सकते हैं जो बहुत दम मारने पर 'कॉन्वेन्ट' का गुदना गुदवाकर जी हजूर अफसर बन जाते हैं। अगर भारत के बुद्धिजीवी अंग्रेजी को एक दबदबेदार विश्व-भाषा मानकर उसके बोझ के नीचे नहीं दबते और उसे अन्य विदेशी भाषाओं के समान एक उपयोगी विदेशी भाषा मानकर सीखते तो शायद भारत का अधिक भला होता।

## राष्ट्रीय एकता और अंग्रेजी

कुछ लोग यह कहते हुए भी पाये गये हैं कि अंग्रेजी के कारण सारा भारत एक हुआ। यदि आप अंग्रेजी को हटा देंगे तो भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।

ऐसी बेहूदा बात वे ही कह सकते हैं जिन्हें या तो भारत के इतिहास का ज्ञान नहीं है या जो तथ्यों को जानते हुए भी गफलत में पड़े हुए हैं। क्या अंग्रेजों के आने के पहले यह देश एक नहीं था? क्या हजारों साल पहले कश्मीर के लोग रामेश्वरम् नहीं जाते थे और केरल व मद्रास के लोग बदरीनाथ और पुरी नहीं आते थे? क्या उत्तर और दक्षिण के इन लोगों को अंग्रेजी ने जोड़ रखा था? केरल में पैदा होने वाले आद्य शंकराचार्य ने चारों दिशाओं में जो धर्म-प्रचार किया, क्या उसकी भाषा अंग्रेजी थी? भारत के दिग्-दिगन्तों में गूंजनेवाली शिव-पार्वती की प्रेम कथाएँ क्या अंग्रेजी में लिखी गई थीं? अंग्रेजीपरस्त लोगों के पास इन सवालों का कोई जवाब नहीं है।

हाँ, वे यह कह सकते हैं कि अंग्रेज ने सारे भारत में रेल बिछाई, सड़कें बनाईं, डाक-तार व्यवस्था फैलाई और इस सारे तंत्र को जोड़ा अंग्रेजी भाषा ने। लेकिन हमें कोई यह बताये कि अंग्रेज ने रेल की पटरी क्यों डाली? सड़क क्यों बनाई? डाक-तार क्यों चलाये? अगर इन सवालों का ठीक जवाब मिल जाए तो 'एकता की कड़ी' अंग्रेजी का रहस्य अपने आप खुल जाएगा।

जब मैं ८-१० वर्ष का था तो अपने रिश्तेदारों से मिलने के लिए अपनी दादी के साथ आगर जाया करता था। आगर उज्जैन के पास एक छोटा सा गाँव है। खिलौनानुमा छोटी रेल में बैठने में मुझे बड़ा मजा आता था लेकिन मैं हमेशा सोचता था कि आगर जैसे छोटे से स्थान के लिए अंग्रेजों ने रेल क्यों बनाई? उसका राज़ काफी दिनों बाद खुला।

मालूम पड़ा कि आगर में अंग्रेजों की छावनी रहती थी। जहाँ-जहाँ अंग्रेजों ने अपनी फौजें टिका रखी थीं, चाहे वह आगर हो, महू हो, अम्बाला हो या नीमच, सभी स्थानों पर रेलों और सड़कों का जाल बिछाया गया। उन स्थानों पर भी रेल और सड़कें ले जाई गईं, जहाँ खदानें थीं, जहाँ से ब्रिटेन के कारखानों को कच्चा माल मिलता था। रेलें और सड़कें इसलिए नहीं बिछाई गईं थीं कि अंग्रेज हिन्दुस्तानियों को एक-दूसरे के नजदीक लाना चाहता था बल्कि इसलिए बिछाई गईं थीं कि फौजों के शीघ्र आवागमन के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठनेवाली आवाजों का गला तुरन्त घोटा जा सके तथा मेनचेस्टर, लंकाशायर और बरमिंघम के कारखानों की मशीनें हिन्दुस्तान के कच्चे सामान को पचाकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की श्री-समृद्धि को कायम रख सकें। अपने साम्राज्य की हिफाजत और खुशहाली के लिए अंग्रेज ने जो तंत्र खड़ा किया था, उसे चलाने के लिए एक प्रशासन की जरूरत थी। प्रशासन के लिए एक जोड़नेवाली भाषा चाहिए थी। वह काम किया अंग्रेजी ने।

अंग्रेजी ने हुक्मरानों को जोड़ा, शासकों को जोड़ा, साम्राज्य के नुमाइन्दों को जोड़ा। अंग्रेजी ने जनता को कभी नहीं जोड़ा, देश को कभी नहीं जोड़ा। देश की जनता के लिए, साधारण जनता के लिए तो आज भी अंग्रेजी एक अजनबी भाषा है। पहलगांव की गलियों में घूमनेवाला कुली और कन्याकुमारी की धर्मशाला का चपरासी एक ही भाषा बोलता है लेकिन वह अंग्रेजी

नहीं है, निश्चित रूप से नहीं है। जब लॉर्ड मेकाले ने भारत में अंग्रेजी की अनिवार्य शिक्षा की वकालत की तो उनका लक्ष्य हिन्दुस्तान में एकता फैलाना नहीं था बल्कि नौकरों और क्लर्कों की ऐसी फौज खड़ी करना था जिसके कंधे ब्रिटिश साम्राज्य के सुदृढ़ स्तम्भ बन सकें। इन नौकरों, अफसरों, क्लर्कों और फौजी हुक्मरानों की एकता को अगर देश की एकता कहा जा सके तो निश्चय ही अंग्रेजी ने देश की बड़ी 'सेवा' की है।

इसी अफसरी एकता की मेहरबानी के कारण १८५७ का स्वाधीनता संग्राम विफल हुआ। इसी ५०-६० हजार आदमियों की एकता ने देश के करोड़ों लोगों को पराधीनता के पाश में बांधे रखा। इसी एकता ने ब्रिटिश साम्राज्य की घिनौनी हरकतों पर एक मोटा पर्दा डाले रखा। यह वही एकता है, जिसने एक तरफ बनारस के जन-आन्दोलन को लाठियों से दबा दिया तो दूसरी तरफ जलियांवाले बाग की जन-सभा को गोलियों से उड़ा दिया। बनारस की लाठियों और अमृतसर की गोलियों को एकता के सूत्र में बांधनेवाली भाषा अंग्रेजी ही थी।

हिन्दुस्तान की आजादी के लिए लड़नेवाले लोग जब तक अंग्रेजी के सहारे रहे, वे आजादी के खुले गीत गाने के बजाय साम्राज्य की बंधी-बंधाई विरुदावलियाँ ही गाते रहे। आजादी का संघर्ष कुछ कुलीन शिक्षितों का बुद्धि-विलास बनकर रह गया। गांधी ने इस कुचक्र की तोड़ा। दयानन्द पहले ही हुंकार लगा चुके थे। गांधी ने कांग्रेस को गोष्ठी-कक्षों से खींचकर देश की कोटि-कोटि गरीब, ग्रामीण, दलित जनता के द्वार पर ला खड़ा किया। देसी भाषाओं में भाषण होने लगे, कांग्रेस के प्रस्ताव दूर से दूर की झोपड़ियों में पहुंचने लगे। जिन अधिवेशनों में पहले हवाइयाँ उड़ती थीं, उन्हीं में हजारों-लाखों की भीड़ उमड़ने लगी। भारतीय भाषाओं ने देश में स्वाधीनता की शक्तियों को एक किया जबकि अंग्रेजी ने पराधीनता की शक्तियों को बल प्रदान किया!

अंग्रेजी ने न केवल पराधीनता की शक्तियों को एक किया बल्कि भारतीयों को भारतीयों से भी अलग किया। दो रूपों में अलग किया। एक तो विभिन्न भाषाओं के बीच जो एक स्वाभाविक सेतु बनना था, उसके स्थान पर अंग्रेजी एक नकली सम्पर्क-भाषा बन गई। अंग्रेजी की उपस्थिति और उसे प्राप्त राज्याश्रय के कारण भारतीय भाषाओं और प्रादेशिक संस्कृतियों के मध्य जो मुक्त आदान-प्रदान होना था, वह रुक गया और उसके स्थान पर एक अत्यन्त अस्वाभाविक प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत बनारस और बैंगलूर के मध्य जितनी निकटता थी, उससे कहीं अधिक निकटता बनारस और लन्दन के बीच स्थापित हो गई। बनारस से बैंगलूर जाने का रास्ता लन्दन से होकर गुजरने लगा। हिन्दी और कन्नड़ के बीच, बांग्ला और तमिल के बीच, मराठी और मलयालम के बीच अंग्रेजी का दलाल आ खड़ा हुआ। भारतीय भाषाओं और प्रादेशिक संस्कृतियों का परिचय परस्पर सीधे न होकर अंग्रेजी के जरिये होने लगा। भारतीय भाषाओं की मूलभूत एकता को अंग्रेजी ने सम्पर्क के स्तर पर विश्रृंखलित कर दिया। यदि अंग्रेजी हट जाए तो भारतीय भाषाओं को अलगाव की जिन क्यारियों

में अंग्रेज ने बांधा था, वे सब अपने आप ढह जाएंगी। भारतीय ज्ञानपीठ इस दिशा में काफी उपयोगी काम कर रहा है।

अंग्रेजी ने जो दूसरा अलगाव पैदा किया, वह और भी अधिक खतरनाक साबित हुआ। वह अलगाव था — जनता और नेता के बीच, राजा और प्रजा के बीच, भद्र-लोक और साधारण जनता के बीच। अंग्रेजी के द्वारा खोदी गई यह खाई जब तक कायम है, समाजवाद और प्रजातंत्र के सुकुमार सपने इसमें दफन होते रहेंगे।

## समाजवाद में बाधक

अंग्रेजी ने हमारे देश में गैर-बराबरी को बढ़ाया है। मैं यह नहीं कहता कि हमारे देश में जो आर्थिक असमानता दिखाई पड़ती है उसका एकमात्र कारण अंग्रेजी है लेकिन यह एक निर्विवाद सत्य है कि गैर-बराबरी को कायम रखने और बढ़ाने में अंग्रेजी का पूरा-पूरा हाथ है।

अंग्रेजी तालीम के जरिये गैर-बराबरी का बीज बचपन में ही बो दिया जाता है। थोड़े-से बच्चे 'कॉन्वेन्ट' में पढ़ते हैं और बहुत से बच्चे टाटपट्टी पाठशालाओं में। इसका कारण योग्यता नहीं है बल्कि बच्चे के माता-पिता की खर्च की हैसियत है। यदि वे ज्यादा खर्च कर सकें, १०० या २०० या ३०० रुपये महीना, तो उनके बच्चे 'उत्कृष्ट' स्कूलों में पढ़ेंगे, अन्यथा देश के शेष बच्चों के लिए 'निकृष्ट' स्कूलों की शिक्षा तो है ही। 'कॉन्वेन्ट' की क्या विशेषता है? कौनसी 'उत्कृष्टता' या ऊँचापन है, इनमें? 'कॉन्वेन्ट' में चमक-दमक वाली वेश-भूषा, आरामदेह मेज-कुर्सी, खेल और मनोरंजन के प्रचुर साधन तथा घर से आने-जाने के लिए वाहन की व्यवस्था तो होती ही है लेकिन उसकी आत्मा है — अंग्रेजी माध्यम की पढ़ाई! यह अंग्रेजी माध्यम की पढ़ाई बच्चे को बहुत अधिक प्रवीण बनाती हो, कुशाग्र-बुद्धि बनाती हो या उसकी समझ का विस्तार करती हो, ऐसी बात नहीं है। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि विदेशी माध्यम की पढ़ाई बच्चे को रट्टू-तोता, नकलची और आलसी बनाती है। फिर भी माता-पिता अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में भेजने के लिए क्यों लालायित रहते हैं?

सिर्फ इसलिए कि अंग्रेजी एक पुल है, जो शिक्षा को नौकरी से जोड़ता है। हर माता-पिता चाहते हैं कि हमारा बच्चा इस पुल पर चढ़ जाए। भारत की हर बड़ी नौकरी के लिए, पद के लिए, लाभ के लिए, एक सभ्य और सुसंस्कृत जीवन बिताने के लिए, अंग्रेजी को अनिवार्य बना दिया गया है। इस अनिवार्यता को सहने के लिए, इस मजबूरी से पार पाने के लिए माता-पिता बच्चों को 'कॉन्वेन्ट' में भेजते हैं। 'कॉन्वेन्ट' में अपने बच्चों को कौन भेज सकते हैं? कितने लोग भेज सकते हैं? सिर्फ मुट्ठीभर लोग! यही छोटा-सा वर्ग पहले से ही सुविधासम्पन्न होता है और इसी के उत्तराधिकारी नयी सुविधाओं पर कब्जा कर लेते हैं। टाटपट्टी स्कूलों में पढ़े हुए करोड़ों बच्चों के लिए कोई उम्मीद नहीं है, उबरने का कोई भरोसा नहीं है, आशा की कोई किरण

नहीं है। सुविधाओं पर, अवसरों पर कब्जा करने की धारावाहिकता पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। क्या यह समाजवाद का पूर्ण निषेध नहीं है?

सुविधाओं और अवसरों की यह लूटपाट भी चलती रहे और जनता के सामने एक मासूम मुखड़ा भी बना रहे, इस चमत्कार को टिकाए रखने में अंग्रेजी स्कूल बड़ी मदद करते हैं। अंग्रेजी स्कूल में जानेवाले बच्चों की नसों में प्रारंभ से ही गैर-बराबरी का जहर घोला जाता है। ये बच्चे अपने आपको कुंवर, राजकुवंर समझने लगते हैं और देश के अन्य करोड़ों बच्चों को हिकारत की नजर से देखते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि वे अधिक बुद्धिमान है। जो रटता है, घोटा लगाता है, वह बुद्धिमान कैसे हो सकता है? अंग्रेजी स्कूल के लड़के अपनी बुद्धि की इस कमी को पूरा करते हैं, खर्चीले ताम-झाम से जैसे कि बदसूरत औरतें सुन्दर दिखने के लिए सोना लाद लेती हैं और दुर्भाग्य यह है कि अपने समाजवाद में सोने की कीमत सुन्दरता से अधिक है। नौकरियों में, भविष्य के अवसरों में बुद्धि की परीक्षा नहीं होती, योग्यता की परीक्षा नहीं होती बल्कि अंग्रेजी-ज्ञान की परीक्षा होती है।

हमारी फौज की परीक्षा में क्या होता है? अंग्रेजी भाषा की अनिवार्य परीक्षा होती है और दूसरे विषयों की भी परीक्षा अंग्रेजी माध्यम से होती है। अंग्रेजी का फौज से क्या लेना-देना? दुनिया के बड़े-बड़े फौजी जनरल अंग्रेजी नहीं जानते! चंगेजखान, बाबर, नेपोलियन, शैबानी खान, रोमेल, मार्शल ग्रेचको और जनरल गियाप जैसे लोगों की फौजी शिक्षा क्या अंग्रेजी में हुई है? फौज में तो बहादुरी की, नेतृत्व की, देश-भक्ति की, निशानेबाजी की, शारीरिक क्षमता की और दुश्मन के विरुद्ध उचित रणनीति बनाने की क्षमता की परीक्षा होनी चाहिए। कोई नौजवान इन सब गुणों में निष्णात हो लेकिन यदि अंग्रेजी नहीं जाने तो फौज का अफसर नहीं बन सकता। वह एक साधारण जवान बनने के लिए अभिशप्त है।

यह कहने की जरूरत नहीं है कि एक साधारण जवान और फौज के अफसरों के बीच असमानता की पाताल-ज़ितनी गहरी खाई होती है। यह असमानता उपरोक्त अन्याय की खाज में कोढ़ का काम करती है। क्योंकि अफसरों के पद, जिन पर जवानों की तुलना में १०० से लेकर १००० गुना तक ज्यादा खर्च किया जाता है, केवल उसी वर्ग के लिए आरक्षित हो जाते हैं, जो 'कॉन्वेन्ट' में पढ़ा हो, जो अंग्रेजी फर्राटे से बोलता हो या अपने पुराने मालिकों की हूबहू नकल करने में निष्णात हो। जो गरीबों के लड़के हैं, वे 'डिफेन्स एकेडेमी' की परीक्षा में बैठने का साहस भी नहीं कर सकते। योग्यता एक छोटे-से वर्ग की बपौती बनकर रह जाती है। यही वर्ग है जो सारे देश पर छाया हुआ है। यह समाजवाद कैसे ला सकता है?

एक समतामूलक समाज के निर्माण करने वाले लोगों का जनता से कुछ तो सीधा रिश्ता होना चाहिए। लेकिन जो शासकगण हैं, शासकगण से मेरा मतलब उन सब लोगों से है, जो सम्पन्न हैं, उच्च वर्ण के हैं, शहरों में रहते हैं, नीति बनाते हैं, वे जनता से बिलकुल दूर जा पड़ते हैं। जब वे बच्चे होते हैं तो अलग-थलग स्कूलों में पढ़ते हैं और जब उनके बच्चे हो जाते हैं

तो वे भी इन्हीं स्कूलों में पढ़ते हैं। इस वर्ग को क्या मालूम कि टाटपट्टी स्कूलों की टपकती हुई छत के नीचे बैठने का मतलब क्या होता है? ये क्या जाने कि पेशाब की बदबू और कक्षा की पढ़ाई में क्या रिश्ता है? इस वर्ग का बच्चा घर आकर अपने पिताजी से यह शिकायत क्योंकर करेगा कि कुछ सौ रुपट्टी पानेवाला मास्टर अपनी झुझंलाहट हम पर निकालता है।

हमारे देश के नीति-निर्माता वर्ग को इन सब परिस्थितियों को भोगना ही नहीं पड़ता, इसीलिए चुनिंदा स्कूलों पर करोड़ों रुपये खर्च किए जाते हैं और करोड़ों बच्चे जिन पाठशालाओं मे पढ़ते हैं, वे अनवरत उपेक्षा की शिकार बनी रहती हैं। जिस दिन देश में 'कॉन्वेन्ट' नहीं होगा और शासक वर्ग का बच्चा भी टाटपट्टी स्कूल में पढ़ेगा और घर आकर स्कूल के अंधेरे की, बदबू की, पिटाई की चर्चा करेगा, उसी दिन देश की शिक्षा का नक्शा बदल जाएगा। जिस दिन रेल की द्वितीय श्रेणी में मंत्री धक्के खाएगा, अफसर को पाखाने के पास खड़े होकर रात काटनी पड़ेगी और नेता को दरवाजे से लटकते हुए सफर करना पड़ेगा, उसी दिन हिन्दुस्तान की रेलों को सुधारने के लिए सही चिन्तन प्रारंभ होगा। उसी दिन समाजवाद नारा नहीं रहेगा, सच्चाई बन जाएगा।

लेकिन जब तक देश में अनिवार्य अंग्रेजी चलेगी — शिक्षा में, न्याय में, नौकरी में, चिकित्सा में, फौज में — समाजवाद आ नहीं सकता। अंग्रेजी शिक्षा बचपन से ही बच्चों में गैर-बराबरी और पाखंड की भावना को जन्म देती है। आप उत्पादन और वितरण की प्रणाली में तब तक सुधार नहीं कर सकते, जब तक कि देश के बच्चों में बचपन से ही समतामूलक मनोभूमि तैयार नहीं हो। ये अंग्रेजी स्कूल समाजवाद की इस प्रथम आवश्यकता की जड़ों में निरन्तर मट्ठा डालने का प्रयत्न करते रहते हैं।

## आधुनिकता और अंग्रेजी पर्यायवाची नहीं

कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि यदि अंग्रेजी हट गई तो देश के आधुनिकीकरण में बाधा पहुँचेगी। आज देश में जो भी आधुनिकता दिखाई पड़ती है, वह अंग्रेजी के कारण ही है।

ऐसी धारणा इसलिए बन गई है कि बहुत-से लोगों ने आधुनिकता का ठीक-ठीक मतलब आज तक नहीं समझा है। वे अंग्रेजीकरण को, पश्चिमीकरण को ही आधुनिकीकरण मानते हैं। आखिर आधुनिकीकरण है क्या? अगर इस शब्द पर नजर डाली जाए तो काफी हद तक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जो अधुनातन है, बिल्कुल नया है, वह आधुनिक है। अंग्रेजी के 'मॉडर्नाइजेशन' शब्द की जो लेटिन धातु है, उसका अर्थ है — 'बिल्कुल अभी'। याने जो अभी-अभी सामने आया है ताजा है, पुराना नहीं है, वह आधुनिक है।

ये तो हुआ शाब्दिक अर्थ। लेकिन वास्तव में आधुनिकता का मतलब होना चाहिए — प्रकृति पर मनुष्य की विजय, सत्ता के विरुद्ध स्वतंत्रता का अभ्युदय, अंधविश्वास

के विरुद्ध तर्क का प्रतिष्ठापन और सामान्य दक्षता की अभिवृद्धि। क्योंकि ये सब बातें मनुष्य के सुदीर्घ इतिहास में प्राचीन काल के बजाय दो-तीन सौ वर्षों में विशेष रूप से उभरी हैं, अतः इन्हें ही आधुनिक मूल्य या आदर्श कह सकते हैं। ये मूल्य किसी भी जाति या भाषा या देश की बपौती नहीं है।

यह संयोग की बात है कि इनमें से कुछ मूल्य पहले यूरोप में प्रतिष्ठापित हुए। शायद इसीलिए लोगों को भ्रम हो जाता है और वे यूरोप की नकल को आधुनिकीकरण मानने लगते हैं। यूरोप की हर चीज आधुनिक नहीं है। यदि हर चीज को आधुनिक मानेंगे तो फासीवाद, नाजीवाद, साम्यवादी अधिनायकवाद — जैसी निहायत जंगली और आदिम चीजों को भी आधुनिक और ग्राह्य मानना पड़ेगा।

खैर, हम बात कर रहे थे, भाषा और आधुनिकता के बारे में। यूरोप में जब पुनर्जागरण प्रारंभ हुआ, जब आधुनिकता ने यूरोप के द्वार खटखटाये तो सबसे पहला धक्का लगा, लेटिन के एकछत्र साम्राज्य को। एक साम्राज्यवादी भाषा के एकाधिकार को चुनौती दी, स्थानीय भाषाओं ने। जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, डच, चेक, स्लोवाक आदि भाषाओं के जरिये राष्ट्रों ने अपने स्वतंत्र अस्तित्व की अभिव्यक्ति की। खुद लन्दन की स्थिति क्या थी? अदालत का काम, राज-काज का काम और बड़े-बड़े बौद्धिकों का लेखन लेटिन में चलता था। अगर कोई वकील अदालत में अंग्रेजी में बहस करता तो उस पर जुर्माना हो जाता था। अगर कोई लेखक लेटिन में नहीं लिखता था तो दूसरे दर्जे का बौद्धिक समझा जाता था। अंग्रेजी को गँवारों की भाषा माना जाता था। लेकिन ज्यों-ज्यों आधुनिकता की चेतना बढ़ी, जनता ने अपनी-अपनी भाषाओं के लिए जमकर संघर्ष छेड़ा। उनको परवान चढ़ाया। अपनी भाषा का, स्वभाषा का समुत्कर्ष आधुनिकता का एक अनिवार्य अंग है। शायद अधकचरे अंग्रेजीदाँ लोगों को इन तथ्यों का पता नहीं है, वरना वे भारत जैसे देश में अंग्रेजी को थोपने की बात नहीं करते। वे स्वयं इतिहास से कुछ सबक लेने को तैयार क्यों नहीं है?

किसी भी राष्ट्र पर एक विदेशी भाषा को थोपना आधुनिकता के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है। आपको एक ठोस उदाहरण देता हूँ। आप एक आधुनिक राज्य किसे कहेंगे? एक आधुनिक राज्य तो वही होगा जिसमें जनता राज-काज में पूरी तरह भाग ले। इसके विपरीत एक सामंतवादी, दकियानूसी, पोंगापंथी राज्य कैसा होगा? ऐसा होगा कि जिसमें 'कोऊ नृप होय हमें का हानि।' जनता को नीति-निर्माण से कुछ लेना-देना नहीं। राजा की इच्छा ही कानून है या जैसा कि फ्रांस का लुई चौदहवां कहा करता था, "मैं ही राज्य हूँ।" यह है — १७ वीं शताब्दी की बात, १८ वीं शताब्दी की बात, १९ वीं शताब्दी की बात। बिल्कुल भी आधुनिक नहीं।

यही बात भारत की संसद में आज भी देखी जा सकती है। ५०० संसत्सदस्यों में से ४०० से भी ज्यादा गूंगे-बहरों की तरह सदन में बैठे रहते हैं। बहस में भाग नहीं लेते। सिर्फ हाथ उठा देते हैं। ऐसा क्यों होंता है? क्या वे बोलना नहीं जानते? क्या वे राजनीति नहीं समझते?

क्या वे अपनी जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करना चाहते? नहीं नहीं, चाहते हुए भी वे बोल नहीं पाते, क्योंकि वे अंग्रेजी नहीं जानते। अंग्रेजी में बोलना प्रतिष्ठा की बात है। जो अंग्रेजी में बोलता है, उसकी सुनी जाती है।

प्रकाशवीर शास्त्री, राममनोहर लोहिया, अटलबिहारी वाजपेयी और मधु लिमये तो अपवाद हैं। ये नयी लीक खींचनेवाले लोग रहे हैं। लेकिन जो अंग्रेजी भी नहीं जानते और हिन्दी भी नहीं जानते, वे क्या करें? जिन करोड़ों लोगों का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उनका नीति-निर्माण में कोई हाथ नहीं है, जैसे पुराने जमाने में राजा का दरबार कुछ 'रत्नों' की सलाह पर चलता था चाहे वे नौ रतन हों, चौदह रतन हों या चौबीस रतन, वैसे ही आज जो अंग्रेजी बोलने वाला रतन है, उसकी बहस से हिन्दुस्तान की संसद चलती है। क्या इसे आप एक आधुनिक संसद कहेंगे? क्या यह एक आधुनिक राज्य है? क्या यह लोकतंत्र है? यदि नहीं तो यह अंग्रेजी की मेहरबानी है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। हमारे देश की नीतियाँ अंग्रेजी में बनती हैं। नेतृत्व के शिखर से लुढ़कती हुई नीतियाँ जनता के पाताल तक पहुँचते-पहुँचते या तो नदारद हो जाती हैं या वे अपना रूप खो देती हैं। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं को या विदेश नीति के वक्तव्यों को हिन्दुस्तान की औसत जनता का कितना बड़ा भाग समझ पाता हैं? इसके विपरीत अंग्रेजी में बनी इन नीतियों को अमरीका और इंग्लैंड का हर गड्ढे खोदने वाला मजदूर भी समझ सकता है। क्या यह हिन्दुस्तान के आम आदमी के साथ छल नहीं हैं कि ताश के सारे पत्ते आप विदेशियों के सामने तो पसार देते हैं और हमारे देश की जनता से, जिसके खून-पसीने की कमाई से योजनाएँ चलती हैं, छिपाने की कोशिश करते हैं। जब तक नीतियों को जनता अच्छी तरह समझेगी नहीं, वह सहयोग किस आधार पर करेगी?

और इसके विपरीत जनता क्या चाहती है, यह भी तो शासकों को ठीक-ठीक पता चलना चाहिए। शासक लोक-भाषाओं की पुस्तकें नहीं पढ़ते, पत्रिका नहीं पढ़ते, अखबार नहीं पढ़ते। यदि आप यह जानना चाहें कि भारतीय जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कौनसे अखबार करते हैं तो लोकभाषा के और अंग्रेजी के अखबारों के 'सम्पादक के नाम पत्र' स्तम्भों को उठाकर देखिए। अंग्रेजी अखबार जबकि बुद्धि-विलास की नकली बहसें चलाते हैं, हिन्दी और लोकभाषाओं के अखबार एक औसत आदमी के दुःख-दर्द की करुण-गाथा पेश करते हैं। कुर्सी पर बैठे नेता को इस करुण-गाथा से कोई मतलब नहीं है, क्योंकि उसके लिए तो सच्चा जनमत अंग्रेजी अखबारों में प्रगट होता है। इसका नतीजा क्या होता है? जनता और नेता के बीच संप्रेषण नहीं होता और संप्रेषण, दोतरफा संप्रेषण आधुनिकता की पहली शर्त है।

दक्षता, आधुनिक समाज-व्यवस्था का एक अनिवार्य लक्षण है। याने कम समय में अधिक से अधिक काम करना और व्यवस्थित तरीके से करना। लेकिन अंग्रेजी की अनिवार्य शिक्षा ने करोड़ों बच्चों को दिमागी तौर पर अपाहिज बना दिया है। अंग्रेजी को रटने के चक्कर में बच्चे

दूसरे विषयों की पढ़ाई पर भी ध्यान नहीं दे पाते। न वे अंग्रेजी अच्छी सीख पाते हैं और न ही दूसरे विषय! न खुदा ही मिला, न विसाले सनम! जब फेल होते हैं तो सबसे ज्यादा अंग्रेजी में फेल होते हैं। अगर एक बच्चा एक हफ्ते में ५ घंटे अंग्रेजी पढ़ने के लिए लगाता है तो हिसाब लगाइए कि वह १० साल में कुल कितने घंटे खर्च करेगा और देश के लाखों बच्चे क्या अपने जीवन के करोड़ों बहुमूल्य घंटे अनिवार्य अंग्रेजी को सीखने में बर्बाद नहीं कर देते?

१० साल तक अनिवार्य अंग्रेजी का घोटा लगवाकर देश के करोड़ों घंटे बर्बाद करने के बजाय बड़े होने पर इन्हीं बच्चों को एक या दो माह में गहन प्रशिक्षण के द्वारा कोई भी विदेशी भाषा सिखायी जा सकती है। पूना के मैक्समूलर संस्थान में आजकल डेढ़ माह में काफी अच्छी जर्मन सिखायी जाती है। यह है, आधुनिकता! कम समय में अधिक काम! मैंने स्वयं तीन मास की साधारण पढ़ाई में रूसी और पन्द्रह दिन के प्रशिक्षण में फारसी सीख ली।

इसके अलावा, करोड़ों बच्चों को एक विदेशी भाषा सीखने की क्या जरूरत है? मुश्किल से हजार में से एक छात्र विदेश जाता है या शोध करता है और जो विदेश जाते हैं, वे सब इंग्लैंड और अमरीका ही नहीं जाते; दूसरे देशों में भी जाते हैं, जहाँ अंग्रेजी नहीं चलती। कुछेक हजार लोगों की विदेशी भाषा की जरूरतों को पूरा करने के लिए करोड़ों लोगों पर अंग्रेजी थोप देना वैसा ही है जैसे कि दो आदमियों की रोटी बनाने के लिए दस मन आटा गूंध लेना! मैं चाहता हूँ कि दो आदमियों की रोटी के लिए कम आटा गुंधे और बढ़िया गुंधे। घास नहीं काटी जाए। अर्थात् विदेशी भाषाओं को थोक में पढ़ाने के बजाय, उत्कृष्ट कोटि के संस्थानों में नवीनतम विधियों के द्वारा उन्हीं को पढ़ाया जाए, जिन्हे उनकी जरूरत है। यह हुई आधुनिक दृष्टि! दुनिया के आधुनिक राष्ट्रों में यही हो रहा है। लेकिन आधुनिकता के नाम पर हमारे देश में उल्टी गंगा बह रही है।

जापान का उदाहरण हमारे सामने है। आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण पहले शुरु हुआ भारत में। जापान में बाद में हुआ। लेकिन आज जापान भारत से मीलों आगे है। जापान ने पश्चिम के अनुभव का लाभ अवश्य उठाया लेकिन उसने अपनी भाषा को नहीं छोड़ा। अपने लाखों वैज्ञानिकों, किसानों, मजदूरों को उसने अपनी ही भाषा में सारा ज्ञान उपलब्ध कराया। कुछ चतुर अनुवादकों को तैयार करके उनसे हर विदेशी भाषा के ज्ञान का जापानी में अनुवाद करवा लिया। अगर भारत की तरह जापान भी अपने नागरिकों पर अनिवार्य जर्मन या अंग्रेजी थोप देता तो आज जापान इतना आगे नहीं बढ़ पाता। वैज्ञानिकों की जो शक्ति प्रयोगों में लगी, वह एक विदेशी भाषा को रटने में खर्च हो जाती, जैसा कि भारत में हुआ। दूसरे शब्दों में अंग्रेजी की अनिवार्यता ने भारत में आधुनिकता की गति को धीमा किया।

२१

# विज्ञान की पढ़ाई और अंग्रेजी

अंग्रेजी के कुछ अंधभक्त लोगों ने देश में यह विचार भी फैलाया कि अंग्रेजी के बिना विज्ञान की पढ़ाई नहीं हो सकती। विज्ञान की सब ऊँची पुस्तकें अंग्रेजी में हैं। अगर अंग्रेजी हट गई तो विज्ञान भी हट जाएगा।

सच पूछा जाए तो बात उल्टी ही है। अंग्रेजी शिक्षा और विज्ञान में तो छत्तीस (३६) का आंकड़ा रहा है। एक का मुँह इधर तो दूसरे का मुँह उधर! ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुराने बही-खाते निकालकर देखें तो मेरी बात समझ में आ जाएगी।

अंग्रेजी शिक्षा के इन गढ़ों में विज्ञान और गणित की पढ़ाई की बड़ी उपेक्षा होती थी, क्योंकि विज्ञान तर्क करना सिखाता है और तर्क मजहब का दुश्मन है और मजहबी लोग ही इन शिक्षा-केन्द्रों को अपने अनुदान से जीवित रखते थे। ऐसी स्थिति में विज्ञान और गणित की पढ़ाई घरों में ही चलती थी। जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक और गणितज्ञ ने विश्वविद्यालय जाने के बजाय घर में बैठकर पढ़ना-लिखना ज्यादा अच्छा समझा। आपने माइकेल फेराडे का नाम सुना होगा, जिसने बिजली का आविष्कार किया। इस आदमी ने कभी ऑक्सफोर्ड या केम्ब्रिज का मुँह तक नहीं देखा।

ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज का, यह विज्ञान की उपेक्षावाला रूख भारत में भी आया, क्योंकि बम्बई मद्रास और कलकत्ता में अंग्रेज ने जो विश्वविद्यालय कायम किए, वे उन्हीं की नकल पर थे। इन भारतीय शिक्षा-केन्द्रों में भी ज्यादा जोर 'अंग्रेजी भाषा, साहित्य और धर्म-विद्या' को पढ़ाने पर था। यहाँ भी विज्ञान, गणित आदि विषयों की उपेक्षा की गई। अंग्रेज को इससे कोई मतलब नहीं था, खासकर हुकूमत करनेवाले अंग्रेज को, कि भारतीय प्रतिभा का विकास हो। वह तो अंग्रेजभक्त नकलचियों की फौज खड़ी करना चाहता था। इसके बावजूद भी भारत में जैसे-तैसे विज्ञान की कुछ न कुछ प्रगति हुई ही। प्रगति करते रहने की मनुष्य की अदम्य इच्छा को आखिर कहाँ तक दबाया जा सकता है?

अगर भारत की प्रयोगशीलता को दबाया नहीं गया होता, अंग्रेजों के द्वारा, मुगलों के द्वारा तथा अन्य आगन्तुकों के द्वारा, तो मेरा विश्वास है कि चाँद पर आदमी को भेजने का काम सबसे पहले भारत ही करता। भारत में तो आदि काल से इस बात का ज्ञान और यह मान्यता रही है कि इस पृथ्वी के अलावा अन्य ग्रहों में भी जीवन है। 'विमानशास्त्र' नामक प्राचीन ग्रन्थ को देखकर मैं दंग रह गया। उसमें ध्वनि की गति से उड़नेवाले विमानों का, उनकी बनावट का, उनके सिद्धान्तों का विशद् वर्णन किया गया है।

मैं कहानी-किस्सों की बात नहीं कर रहा हूँ। पोगापन्थ और गप्पों में मेरा जरा भी विश्वास नहीं है। मैं आपसे आर्यभट के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त और लीलावती के गणित की बात कर

रहा हूँ, जिन्हें सारी दुनिया ने मान्यता दी है। चरक और सुश्रुत की बात कर रहा हूँ, वागभट्ट की बात कर रहा हूँ। पिछले दिनों डॉ. रघुवीर के पुत्र डॉ. लोकेशचन्द्र ने जावा, बाली, सुमात्रा, साइबेरिया आदि स्थानों से लाए हुए अनेक ग्रन्थ, चित्र और पदार्थ दिखाए। मैं यह देखकर चकित हो गया कि भारतीय शल्य-चिकित्सा का प्रचार इन सारे इलाकों में था। आज से कई हजार वर्ष पूर्व भारतीय शल्य-चिकित्सा काफी विकसित थी। इसी तरह के रसायन शास्त्र और भौतिक विद्या में भी भारतीयों ने उल्लेखनीय प्रगति की थी। इसे उल्लेखनीय इसलिए कहता हूँ कि उसी काल में अन्य देशों की तुलना में, खासकर ब्रिटेन की तुलना में भारत हजारों मील आगे था। लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि इस प्रगति को लकवा क्यों मार गया? यह प्रगति अपने तर्कसंगत मार्ग पर क्यों नहीं चल सकी?

इसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन एक प्रमुख कारण है — बाहरी शासकों द्वारा हमारे देश में चलने वाली शिक्षा और शोध की परम्परा को नष्ट-भ्रष्ट करना। दूसरे आततायियों की बात यहाँ छोड़ दें। अंग्रेजों के प्रयत्नों के बारे में मैं पहले ही कह चुका हूँ। अंग्रेजों ने अंग्रेजी को ज्यादा महत्व दिया और विज्ञान को कम। अगर अंग्रेजों के मन में अंग्रेजी के प्रति विशेष आग्रह नहीं होता तो विज्ञान की पढ़ाई और प्रयोगों पर अधिक जोर दिया जाता। जब विज्ञान पर अंग्रेजी लाद दी गई तो बच्चों ने विज्ञान कम पढ़ा और अंग्रेजी ज्यादा।

जब किसी विदेशी भाषा के जरिये बच्चों को विज्ञान पढ़ाया जाता है तो वह बोझिल, नीरस और अरुचिकर हो जाता है। विज्ञान क्या है? प्रयोग का दूसरा नाम ही विज्ञान है। जब बच्चा प्रयोग करता है तो उसके और उपकरणों के बीच भाषा की कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। भाषा को दासी की तरह सेवा करनी चाहिए। भाषा को साधने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। लेकिन जब अंग्रेजी में विज्ञान पढ़ाया जाता है तो एक विद्यार्थी प्रयोग प्रारंभ करे, उसके पहले उसे अंग्रेजी से कुश्ती लड़ना पड़ती है। पहले भाषा समझे, फिर प्रयोग करे!

एक पांचवीं कक्षा के बच्चे को अगर अंग्रेजी में कहा जाए कि "होल्ड द टेस्ट-ट्यूब अपराइट" तो इस आदेश का पालन करने के पहले उसे समझना पड़ेगा कि 'होल्ड' का मतलब क्या है, 'टेस्ट-ट्यूब' का मतलब क्या है और 'अपराइट' का मतलब क्या है तथा इन सब शब्दों को एक सांथ रखने पर क्या मतलब निकलता है? यह सब ठीक-ठीक समझे बिना वह प्रयोग नहीं कर सकता जबकि दूसरी कक्षा के बच्चे से आप उसकी मातृभाषा में कहें की 'परख-नली को सीधा पकड़ो' तो वह तत्काल, बिना किसी कठिनाई के, उस आदेश का पालन करेगा और प्रयोग कर लेगा। ऐसा क्यों होता हैं।

ऐसा इसलिए होता है कि जब वह एक-डेढ़ साल का था, तभी से उसने अपनी माँ के मुख से इसी भाषा में इसी तरह के कई वाक्यों को सुना है और उसका पालन किया है। उसे भाषा को साधने की जरूरत नहीं है। वह तो उसे जन्म-घुट्टी में पिलाई गई है। अब आप ही बताइये, प्रयोग या शोध किस भाषा में आसानी से हो सकता है? मातृ-भाषा में या विदेशी भाषा में?

विडम्बना यह है कि विज्ञान के बगीचे तक पहुँचने के लिए एक छात्र को अंग्रेजी का जलता हुआ मरुस्थल पार करना पड़ता है। कुछ सी.वी. रमन और कुछ हरगोविन्द खुराना और कुछ नार्लीकर जैसे अदम्य साहसी लोग तो उस मरूस्थल को भी हँसते-हँसते पार कर जाते हैं और अपना जौहर दुनिया को दिखा देते हैं लेकिन एक औसत विद्यार्थी या तो फल पाने की इच्छा ही नहीं करता है या रास्ते में ही दम तोड़ देता है या अपनी पूरी जिन्दगी मरुस्थल पार करने में ही लगा देता है। स्वयं रमन जैसे वैज्ञानिकों ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि यदि भारत में विज्ञान मातृभाषा के जरिये पढ़ाया गया होता तो आज भारत दुनिया के अग्रगण्य देशों में होता।

जो दुनिया के देश आज विज्ञान में आगे बढ़े हुए हैं, क्या वहाँ विदेशी भाषाओं के जरिये विज्ञान की पढ़ाई होती है? कतई नहीं। इंगलैंड और अमेरिका में अंग्रेजी में, जर्मनी में जर्मन में, फ्रांस में फ्रांसीसी में, रूस में रूसी में और जापान में जापानी भाषा में विज्ञान पढ़ाया जाता है। रूस के बड़े-बड़े वैज्ञानिक अंग्रेजी का एक काला अक्षर भी नहीं जानते। फिर दूसरे देशों में होनेवाली वैज्ञानिक प्रगति के बारे में उन्हें जानकारी कैसे मिलती होगी? उस जानकारी को प्राप्त करने के लिए ये वैज्ञानिक अंग्रेजी या अन्य दर्जनों विदेशी भाषाएं सीखने में अपना समय बर्बाद नहीं करते।

हर देश में अनुवादकों का एक समूह होता है जो न केवल एक भाषा से बल्कि अनेक भाषाओं से विज्ञान की सामग्री देशी भाषाओं में ले आता है। यदि वैज्ञानिक स्वयं विदेशी भाषाएं सीखना भी चाहें तो वे कितनी विदेशी भाषाएं सीख सकते हैं जबकि अनुवादक तो कई भाषाओं के हो सकते हैं। इसलिए यह तर्क तो बिलकुल थोथा है कि अंग्रेजी के बिना विज्ञान की पढ़ाई को धक्का लगेगा। बल्कि मैं तो उल्टी बात कहता हूँ। वह यह कि अंग्रेजी के कारण विज्ञान की पढ़ाई को धक्का लग रहा है।

## संस्कृति और भाषा

जब किसी राष्ट्र पर एक विदेशी भाषा हावी होने लगती है तो उस राष्ट्र की संस्कृति के लिए सबसे बड़ा खतरा उपस्थित हो जाता है। संस्कृति क्या है? हमारे पूर्वजों ने विचार और कर्म के क्षेत्र में जो कुछ भी श्रेष्ठ किया है, उसी धरोहर का नाम संस्कृति है। यह संस्कृति अपनी भाषा के जरिये जीवित रहती है। यदि भाषा नष्ट हो जाए तो संस्कृति का कोई नामलेवा-पानीदेवा नहीं रहता। संस्कृति ने जिन आदर्शों और मूल्यों को हजारों सालों के अनुभवों के बाद निर्मित किया है, वे विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। भाषा संस्कृति का अधिष्ठान है। संस्कृति भाषा पर टिकी हुई है।

मैं तो इससे भी एक कदम आगे जाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हमारे पूर्वजों ने जो कुछ बुरा सोचा या किया है, वह भी हमारे सामने होना चाहिए। इसे आप चाहे विकृति कह

लीजिए। इससे भी हम अपना भविष्य सुधार सकते हैं। यह भी भाषा की मोहताज है। अपनी संस्कृति और विकृति दोनों से परिचित होने के लिए अपनी भाषा की धारा निरन्तर बहती रहनी चाहिए। अगर अपनी भाषा नहीं होगी तो हमें न तो अपनी अच्छाइयों का पता चलेगा और न ही बुराइयों का।

आज जो बच्चे अनिवार्य अंग्रेजी पढ़ रहे हैं और यह समझकर पढ़ रहे हैं कि वह उत्कृष्ट भाषा है, उनका ध्यान भारत की विरासत से हट रहा है। वे शेक्सपियर पढ़ेंगे, मिल्टन पढ़ेंगे, शैली पढ़ेंगे लेकिन कालिदास, तुलसी, सूर, कबीर, बिहारी उनके लिए अजनबी बन जाएँगे। हो सकता है कि 'कॉन्वेन्ट' की अंग्रेजी पुस्तकों में शकुन्तला के बारे में या भरत के बारे में या कन्हैया की रासलीला के बारे में थोड़ा-बहुत पढ़ा दिया जाए। लेकिन जब ये बच्चे बड़े होंगे तो ये अपनी प्यास बुझाने के लिए ग्रन्थों को मूल रूप से पढ़ना चाहेंगे, घटनाओं के बारे में विस्तार से जानना चाहेंगे। मगर जानेंगे कैसे? ये सारे ग्रन्थ अंग्रेजी में तो नहीं लिखे गए हैं। तब क्या होगा?

ये बच्चे बड़े होकर या तो अपने ही ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद पढ़ेंगे और राम को 'रामा', कृष्ण को 'कृष्णा' तथा कुत्ती को 'कुन्टी' कहेंगे या फिर इनका ध्यान पूरी तरह से अंग्रेजों की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाले अंग्रेजी ग्रन्थों की ओर चला जाएगा। शेक्सपियर के 'हेमलेट' के हर वर्ष नये संस्करण निकलेंगे और बाणभट्ट की 'कादम्बरी' को दीमक खाया करेंगी। हॉब्स का 'लेवियाथन' गर्म पकोड़ों की तरह बिकेगा और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' बासी डबलरोटी की तरह सडता रहेगा।

मैं हेमलेट या मेकबेथ पढ़ने का विरोधी नहीं हूँ। मै तो चाहता हूँ कि आधुनिक भारत के नौजवान-भंवरे — दांते, अरस्तू, शेक्सपियर, हीगल, कामू, सार्त्र, टॉल्सटॉय, येवतुशेन्को सभी का रस पीने लायक बनें लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा रेल की पटरी की तरह होती है। जिधर पटरी जाती है, रेल भी उधर ही जाती है। अगर पटरी नई दिल्ली की तरफं जा रही है तो लाख कोशिश करने के बावजूद रेल बंबई की तरफ नहीं मुड़ सकती। आज हिन्दुस्तानी की शिक्षा की रेल को अंग्रेजी की पटरी पर दौड़ाया जा रहा है। यह रेल कहाँ जाएगी? यह रेल गंगा के घाट पर या कालिंदी के कूल पर या अयोध्या की गलियों में हजार साल की यात्रा के बाद भी कभी नहीं आएगी। यह जाएगी और सीधी जाएगी टेम्स के किनारे या ट्राफलगर स्क्वेयर या बकिंघम के राजमहल के पास! क्यों? क्योंकि वह अंग्रेजी की पटरी पर दौड़ रही है। याद रखिये, भाषा जितनी अच्छी सेविका है, वह उतनी ही कठोर स्वामिनी भी है।

जब आप विदेशी भाषा के साथ इश्क फरमाते हैं तो वह उसकी पूरी कीमत वसूलती है। वह अपने आदर्श, अपने मूल्य आप पर थोपने लगती है। यह काम धीरे-धीरे होता है। सौन्दर्य के उपमान बदलने लगते हैं, दुनिया को देखने की दृष्टि बदल जाती है। आदर्श और मूल्य बदल जाते हैं। आदर्श और मूल्य बदलें और तार्किक ढंग से बदलें तो मुझे कुछ आपत्ति नहीं है। विदेशी भाषा कछ बेहतर मूल्य भी हमें दे सकती है लेकिन आपत्ति तो तब होती है जबकि एक

खंडित चिन्तन का, एक दो मुँहे व्यक्तित्व का निर्माण होने लगता है। आप रहते तो हैं भारतीय परिवेश में और बौद्धिक रूप से समर्पित होते हैं, अंग्रेजी परिवेश के प्रति! ऐसा व्यक्तित्व सृजनशील नहीं बन पाता। उदाहरण के लिए यूरोप का आदमी बादलों को देखकर प्रायः प्रसन्न नहीं होता। पहले से ही वे ठंडे देश हैं। फिर बादल आ जायें, आसमान कुछ-कुछ गहराने लगे तो मातम-सा छा जाता है।

इसके विपरीत भारत में ज्यों ही बादल मंडराए कि मन-मयूर नाचने लगता है। मेघदूत की रचना होती है। हमारा देश सूरज का देश है, धूप का देश है। यूरोप धूप के लिए तरसता है और हम बादलों के लिए! अब बताइए अंग्रेजी में कविता लिखनेवाला हिन्दुस्तानी क्या करेगा? अगर वह बादलों की तारीफ करेगा तो उसकी कविता उसके पश्चिमी स्वामियों के गले नहीं उतरेगी और अगर वह कड़ाके की धूप पर गीत लिखेगा तो घटाओं पर झूमनेवाला उसका दिल उसका साथ कहाँ तक देगा?

भाषा के बदलने से मूल्य भी बदल जाते हैं। हिन्दीमें बड़ों को आप, बराबरी-वालों को तुम और छोटों को तू कहने की सुविधा है लेकिन अंग्रेजी में सपाट सम्बोधन है — 'यू'। पिताजी के लिए, पत्नी के लिए, बच्चे के लिए — सबके लिए एक ही चाबुक है। उसी से हांकिये! हमारे यहाँ देवर, भाभी, जेठ, देवरानी, जेठानी, मासा, मौसी, चाचा, फूफा, भानजा, भतीजा, साला, जीजा — सब सम्बोधनों के लिए निश्चित शब्द हैं। शब्दों से सम्बन्ध निश्चित होते हैं। जब मुझे कहा जाए कि ये आपके साले हैं तो मैं तत्काल समझ जाऊँगा कि ये मेरी पत्नी के भाई हैं और जब यह कहा जाये कि ये आपके जीजा हैं तो मैं तत्काल समझ जाऊँगा कि ये मेरी बहिन के पति हैं लेकिन अंग्रेजी में तो सब घोटाला है। साला और जीजा दोनों के लिए एक ही शब्द है — ब्रदर इन लॉ।

इसका कारण स्पष्ट है। मानवीय सम्बन्धों की जिन बारीकियों का महत्व हमारी संस्कृति में है, वह पश्चिम में नहीं है। एस्किमो लोगों की भाषा में बर्फ के लिए लगभग १०० शब्द हैं जबकि हमारी भाषा में पाँच-सात! बर्फ से हमारा उतना साबका नहीं पड़ता जितना एस्किमो का! ब्रह्म के लिए, जीव के लिए, जगत के लिए, मोक्ष के लिए — एक-एक शब्द के लिए हमारे यहां जितने भिन्न-भिन्न शब्द हैं, उतने शब्द सारी यूरोपीय भाषाओं में कुल मिलाकर नहीं हैं! और सिर्फ शब्द ही नहीं है, शब्दों के पीछे गहरी अनुभूतियाँ हैं। इस प्रकार संस्कृति से भाषा प्रभावित होती है और जैसा कि ऊपर कह आये हैं, भाषा से संस्कृति प्रभावित होती है। अपनी भाषा को छोड़कर विदेशी भाषा के पिछलग्गू बनने के पहले विद्वानों को इन तथ्यों पर विचार करना चाहिए!

## पहले तैरो, फिर पानी में उतरो

कुछ लोग कहते हैं कि अंग्रेजी हटाने के सम्बन्ध में हम आपके तर्कों से सहमत हैं लेकिन

जब तक हिन्दी तथा अन्य भाषाएँ अंग्रेजी के बराबर शक्तिशाली नहीं बन जाएँ, अंग्रेजी का हटाना एक जल्दबाजीभरा कदम होगा। जब अपनी भाषाएँ सशक्त हो जाएंगी तो अंग्रेजी अपने-आप हट जाएगी।

जब आजादी का आन्दोलन चल रहा था तो बिल्कुल इसी तरह का तर्क अंग्रेजों के बारे में दिया जाता था। कुछ लोग कहते थे कि आजादी तो मिलनी ही चाहिए लेकिन हम इस लायक नहीं हैं कि अपनी सरकार खुद चला सकें। जब हम अपना राज खुद चलाने लायक हो जाएंगे तो अंग्रेज अपने आप हट जाएगा। अंग्रेज यहाँ जमा रहे, इसलिए स्वयं को निरन्तर नालायक सिद्ध करते रहना एक फैशन बन गया था।

आज भाषा के प्रश्न को लेकर भी यही हो रहा है। अपनी भाषाओं की तरफ, उनके सौन्दर्य और सामर्थ्य की तरफ हमारे बुद्धिजीवी झांककर भी नहीं देखते और अंग्रेजी की जूठन चाटने को सदा तैयार रहते हैं। जूठन इतनी चटपटी है कि हमारा बुद्धिजीवी, भोजन की बुराइयों पर व्याख्यान देता है, ग्रन्थ लिखता है; यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि भारतीय भाषाएँ समर्थ नहीं हैं।

मैं पूछता हूँ कि समर्थता से उनका मतलब क्या है? क्या व्याकरण की समर्थता? क्या लिपि की समर्थता? क्या शब्दों की समर्थता? यदि हाँ, तो मैं कहना चाहता हूँ कि इस समय हिन्दी, जिसके बारे में मुझे थोड़ी सी जानकारी है, अंग्रेजी से मीलों आगे है। जहाँ तक अंग्रेजी के व्याकरण और लिपि का प्रश्न है, उस पर जितना बोला जाए, कम है। स्वयं बर्नार्ड शॉ ने अपने नाटक 'पिगमेलियन' में अंग्रेजी के उच्चारण का मजाक करते हुए कहा है कि अंग्रेजी का ठीक उच्चारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास एक पुरानी घिसी-पिटी लिपि के अलावा कुछ नहीं है और उसमें भी बहुत कम व्यंजन ऐसे हैं जिनका उच्चारण सर्वमान्य है। जिस भाषा में बी यू टी का उच्चारण बट हो और पी यू टी का पुट हो जाय, उस भाषा की व्याकरण के क्या कहने? इसी प्रकार एक भाषाशास्त्री ने सिद्ध किया है कि व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से अंग्रेजी दुनिया की सबसे कमजोर और भ्रष्ट भाषाओं में से एक है।

यहाँ मैं अंग्रेजी भाषा के छिद्रान्वेषण के काम में नहीं पड़ना चाहता; क्योंकि दूसरे की माँ के अवगुणों को गिनाने से अपनी माँ गुणवती नहीं बन जाती। हर भाषा की अपनी-अपनी कमियाँ और खूबियाँ होती हैं। उनके विश्लेषण का काम भाषाशास्त्रियों का है और उन्होंने इसे काफी अच्छी तरह किया भी है। यहाँ मैं सिर्फ यह बताना चाहता हूँ कि पश्चिमी भाषाशास्त्री भी अंग्रेजी की वैसी आरती नहीं उतारते, जैसी कि हमारे विदूषक बुद्धिजीवी उतारते हैं।

जहाँ तक भारतीय भाषाओं के शब्द-सामर्थ्य का प्रश्न है, अंग्रेजी में जितने शब्द हैं, उससे कई गुना शब्द अकेली हिन्दी में हैं। फिर, अन्य कई हिन्दुस्तानी भाषाएँ तो हिन्दी से भी अधिक प्राचीन और प्रांजल हैं। इन सब भाषाओं और सैकड़ों भारतीय बोलियों के शब्दों को यदि एक स्थान पर एकत्रित कर लें तो मेरा अनुमान है कि कम से कम ६० लाख शब्द बन जाएंगे।

जालंधर के एक विद्वान ने मुझे बताया कि वे हिन्दी के ऐसे शब्दों का संकलन कर रहे हैं, जो पहले से ही लोक-जीवन में प्रचलित हैं। उनका कहना है कि उनके संग्रह में लगभग १५ लाख शब्द हैं। और नये शब्द बनाने की क्षमता जैसी भारतीय भाषाओं में है, वैसी दुनिया की किसी भी भाष' में नहीं है। संस्कृत की एक-एक धातु से सैकड़ों नये शब्द बन सकते हैं। मानव मन की गहनतम और सूक्ष्मतम अनुभूतियों को भारतीय भाषाएँ सहस्त्रों वर्षों से सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करती आ रही हैं।

और अगर यह मान भी लिया जाये कि भारतीय भाषाओं में कुछ विषयों के शब्द नहीं है तो इसका उल्टा भी सत्य है। जैसे मोटर के लिए कोई हिन्दी शब्द नहीं है तो धर्म या जनेऊ या यज्ञ या ब्रह्म के लिए कौनसा उपयुक्त अंग्रेजी शब्द है? वास्तव में जो जीवंत भाषाएँ हैं, वे शब्दों की छुआछूत नहीं मानतीं। शब्द जिधर से भी आयें, ग्रहण किये जाने चाहिए।

मैं चाहता हूँ कि विदेशी भाषाओं के शब्द हिन्दी पचा ले, जैसा कि कमीज, अलमारी, अचार आदि शब्दों को पचाया है। अब इन शब्दों का घराना-ठिकाना खोजना भी मुश्किल ही है। स्वयं अंग्रेजी के आधे से अधिक शब्द यूनानी, लातीनी और फ्रांसीसी भाषाओं से आये हैं। अंग्रेजी ने हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के सैकड़ों शब्दों को जस का तस हजम कर लिया है जैसे पंडित, गुरु, नवाब, राजा, महावत, चौकीदार, चपाती, चारपाई आदि! भारतीय भाषाओं में भी जरूरत के मुताबिक शब्द आते जाएंगे। इस प्रकार, अंग्रेजी को चलाए रखने के लिए शब्दों की कमी का तर्क तो बिल्कुल सतही है।

कमी शब्दों की नहीं, संकल्प की है। यदि अपनी भाषाओं में संकल्प के साथ सारे काम शुरु कर दिए जाएँ तो शब्द अपने-आप पीछे-पीछे चले आयेंगे। जब तक पानी में कूदेंगे नहीं, तैरना कैसे आएगा? यह भी कोई तर्क है कि पहले तैरना सीखो, फिर पानी में कूदो? क्या तैरना हवा में सीखा जाता है? जो भीगने से, छपछपाने से, डूबने से डरता है, वह तैरना कैसे सीखेगा?

अभी लगभग १०० साल पहले तक फिनलैंड के लोग स्वीडी भाषा का इस्तेमाल करते थे। उन्होंने एक दिन तय किया कि वे अपनी भाषा चलाएँगे। बस, दूसरे दिन से, ही काम शुरू हो गया और आज फिनी भाषा के जरिये सारा काम-काज अच्छी तरह से चल रहा है। ज़ार के जमाने में रूस में फ्रांसीसी भाषा का दबदबा था। लेनिन ने सत्तारूढ़ होते ही एक झटके में फ्रांसीसी को खत्म कर दिया। आज रूसं में बड़े से बड़ा काम रूसी भाषा में होता है। तन्जानिया और लीब्या में भी यही हो रहा है।

लेकिन हमारे शासकों ने अंग्रेजी के मामले में ऐसी नीति अपनाई, जो कि केवल गुलाम लोग ही अपना सकते हैं। गुलाम लोग अपने पर थोपी गई भाषा को तब तक नहीं हटा सकते जब तक उनके सिर पर एक बाहरी मालिक बैठा रहता है। अब मालिक को गये, चालीस साल से भी ज्यादा हो गए लेकिन हमारा दिमागी वहम हमें अंग्रेजी हटाने से रोकता है। सिर्फ रोकता

ही नहीं है बल्कि अंग्रेजी को टिकाये रखने के लिए नए-नए बहाने खोजता है। बहानों का तो इलाज है, लेकिन वहम का कोई इलाज नहीं है।

व्यांकरण के सवाल पर, लिपि के सवाल पर, उच्चारण के सवाल पर, शब्द-राशि के सवाल पर याने जब हर सवाल पर अंग्रेजी मात खाती दिखाई पड़ती है तो हमारे पिछलग्गू बुद्धिजीवी एक अन्य ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने लगते हैं। वे किताबों की कमी का रोना लेकर बैठ जाते हैं। वे कहते हैं, भारतीय भाषाओं में किताबें ही कहाँ है कि शिक्षा का माध्यम बदल दिया जाय!

किताबें कम हैं, यह बात ठीक है लेकिन इसी कारण भारतीय भाषाओं में पढ़ाई शुरू नहीं की जाय, इससे बढ़कर बोदा तर्क क्या होगा? किताबें आने पर पढ़ाई शुरू की जायेगी, यह तर्क ऐसा ही है, जैसे यह कहना कि जब तक थाली नहीं परोसी जायेगी, भूख नहीं लगेगी या भूख तभी लगेगी जब थाली परोसी जायेगी। क्या भूख थाली पर निर्भर होती है?

अगर भूख कड़ाके की हो तो थालियाँ अपने-आप प्रकट हो जायेंगी। अगर पढ़नेवाले हों और पढ़ानेवाले हों तो किताबें तैयार करने में कितनी देर लगती है? सोवियत संघ ने सैकड़ों विषयों की हजारों किताबें हाथोंहाथ तैयार की या नहीं? आज समाजशास्त्र या कला संबंधी विषयों की सैकड़ों बढ़िया किताबें हिन्दी में आ गई हैं या नहीं?

अगर केन्द्र और राज्य की सरकारें घोषणा कर दें कि अगले साल से अंग्रेजी माध्यम की पढाई खत्म हो जायेगी तो आप देखेंगे कि एक ही साल में वह चमत्कार हो जायगा, जो पिछले दो सौ वर्षों में नहीं हुआ। सभी भारतीय भाषाओं में किताबों का अम्बार लग जायेगा। अंग्रेजी माध्यम से पढ़ानेवाले अध्यापकों के रूंधे हुए गलों में नई स्वर-लहरियों की उद्‌भावना होगी। मौलिक विषयों को मौलिक माध्यम से पढ़ने पर छात्रों का मुरझाया प्रतिभा-कमल तत्काल खिल उठेगा।

हिन्दी अखबारों की जबर्दस्त कामयाबी अंग्रेजी के मुँह पर करारा तमाचा है। अब कोई यह नहीं कहता कि हिन्दी अखबार निकालने के पहले हिन्दी को सशक्त बनाओ। हिन्दी की सामर्थ्य का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि अंग्रेजी की संवाद समितियों ने मजबूर होकर हिन्दी की सवाद समितियाँ स्थापित की हैं और अंग्रेजी अखबारों के मालिक एक के बाद एक हिन्दी के अखबार निकाले जा रहे हैं। सारे देश में छपनेवाले अंग्रेजी के अखबार सारी भारतीय भाषाओं के अखबारों के मुकाबले तो बहुत कम हैं ही, अकेले हिन्दी अखबारों ने ही अंग्रेजी अखबारों को शिकस्त दे दी है। इस समय हिन्दी अखबारों की प्रसार-संख्या अंग्रेजी अखबारों से कहीं ज्यादा है।

लगभग हर प्रदेश में अब प्रादेशिक भाषा के अखबारों का दबदबा है। हिन्दी इलाके ने अपने प्रदेशों से अंग्रेजी अखबारों को खदेड़ दिया है। हिन्दी पत्रकारिता ने मलयालम, तमिल,

बांग्ला, गुजराती और मराठी पत्रकारिता की तरह यह सिद्ध कर दिया है कि अपनी भाषा में अपने लोगों के लिए की जा रही पत्रकारिता निश्चय ही अधिक सशक्त है, अधिक सहज है और अधिक सार्थक है।

दिल्ली गुलामी का गढ़ है। लगता है, सारे देश से खदेड़ी जा रही अंग्रेजी अब दिल्ली से चिपककर बैठ गई है। किसी भी आजाद देश के लिए इससे ज्यादा शर्म की बात क्या होगी कि उसकी राजधानी से विदेशी भाषा के लगभग एक दर्जन अखबार निकलते हैं। मानो दिल्ली भारतीयों का नहीं विदेशियों का शहर हो? अंग्रेजी के ये अखबार ज्यादा कागज खाते हैं, ज़्यादा पैसा खाते हैं, ज्यादा विज्ञापन निगलते हैं। फिर भी उतने लोगों तक नहीं पहुँच पाते, जितने लोगों तक हिन्दी के अखबार पहुँचते हैं। अंग्रेजी अखबारों और अंग्रेजी संवाद समितियों पर बर्बाद किया जा रहा पैसा और श्रम अगर भारतीय भाषाओं के अखबारों पर लगाया जाय तो भारत का भाषाई नक्शा एकदम बदल सकता है।

कुछ पत्रकार बन्धु पूछते हैं कि आपके आन्दोलन के चलते अगर अंग्रेजी अखबार बन्द हो गये तो सैकड़ों पत्रकारों का क्या होगा? मेरा जवाब है कि उनकी किस्मत चमक उठेगी और भारतीय पत्रकारिता की भी! अंग्रेजी में लिखकर वे कुल्हड़ में गुड़ फोड़ते हैं। उन्हें सिर्फ मुट्ठीभर अंग्रेजीदाँ लोग जानते हैं। अगर वे हिन्दी में, बांग्ला में, मलयालम में, तमिल में लिखेंगे तो करोड़ों पाठकों के कण्ठहार बनेंगे। आज उनका मुँह सरकार की तरफ और पीठ जनता की तरफ है। तब मामला जरा उलटा होगा।

अंग्रेजी के कुछ प्राध्यापकों ने, जो कि इस आन्दोलन के साथ हैं, दबे-छिपे मुझसे यह सवाल किया है कि अगर अंग्रेजी हट गई तो हमारा क्या होगा? मैंने उनसे कहा कि आपकी कीमत बढ़ जाएगी। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि आज अनिवार्य अंग्रेजी पढ़ते समय बच्चे अपने अध्यापकों को मन ही मन कोसते रहते हैं और अंग्रेजी पढ़ने को गधाहम्माली का काम समझते हैं। जब अंग्रेजी हटेगी तो देश में विदेशी भाषाओं की ससम्मान पढ़ाई आरंभ होगी और अंग्रेजी को जो लोग भी पढ़ेंगे, वे उसी सम्मान और स्नेह के साथ पढ़ेंगे, जिसके साथ कि वे आज जर्मन या फ्रांसीसी पढ़ते हैं।

दूसरा अंग्रेजी के हटने के बाद देश में हजारों कुशल अनुवादकों की जरूरत होगी। जो अध्यापक घानी के बैल की तरह ३०-३० साल तक एक ही तरह की पुस्तकों को रटाते रहते हैं, उन्हें नित नई पुस्तकों और साहित्य के अनुवाद का अवसर मिलेगा। बौद्धिक क्षितिज का विस्तार होगा और आमदनी भी बढ़ेगी। अंग्रेजी तो वे जानते ही हैं? यदि दूसरी विदेशी भाषाएँ भी सीख लेंगे तो वे अधिक उपयोगी आदमी बन सकेंगे। इन्हीं लोगों को अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन में सबसे अधिक सक्रिय होना चाहिए। □

# विदेशों में अंग्रेजी

मेरे अन्तरराष्ट्रीय पारपत्र पर लगभग एक दर्जन देशों के छापे लगे हैं लेकिन उन सब में केवल मेरा अपना देश भारत ही एक मात्र ऐसा देश है, जिसका छापा उसकी अपनी जुबान में नहीं है। मैंने करीब आधा दर्जन हवाई कंपनियों से विभिन्न देशों की यात्रा की लेकिन उन सब में केवल अपने देश की हवाई कंपनी, 'एयर इंडिया' की विमान परिचारिकाएं ही एक मात्र ऐसी विमान परिचारिकाएं थीं जो अपने देशवासियों के साथ परदेसी भाषा में बात करती थीं। यदि इस प्रकार की घटनाओं से किसी देश के नागरिकों का सिर ऊंचा होता हो तो सचमुच भारतीय लोग अपना सिर आसमान तक ऊंचा उठा सकते हैं।

हमारे देश में यह आम धारणा है कि विदेशों में अंग्रेजी ही चलती है, अंग्रेजी के बिना हम विदेशों से संपर्क नहीं रख सकते, अंग्रेजी के जरिये ही विदेशी मुल्कों ने विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में उन्नति की है। इस तरह की दकियानूसी और पिछड़ेपन की बातों पर लम्बी बहस चलायी जा सकती है लेकिन यहाँ मैं केवल उन छोटे-मोटे अनुभवों का वर्णन करूंगा जो पूरब और पश्चिम के देशों में भाषा को लेकर मुझे हुए।

मैं एशियाई देशों में अफगानिस्तान, ईरान और तुर्की गया, यूरोपीय देशों में रूस, चेकोस्लोवाकिया, इटली, स्विटजरलैंड, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, जर्मनी तथा ब्रिटेन गया तथा यात्रा का अधिकांश भाग अमेरिका और कनाडा में बिताया। इन देशों में से एक भी ऐसा देश नहीं था जिसकी सरकार का काम-काज उस देश की जनता की जुबान में नहीं होता हो।

अफगानिस्तान जैसा देश, जहां राजशाही थी और जहां राज-परिवार के अधिकांश सदस्यों की शिक्षा पेरिस या लंदन में हुई है, वहां भी शासन का काम या तो फारसी (दरी) या पश्तो में होता है। मैंने अफगानिस्तान के लगभग सभी प्रांतों की यात्रा की और सभी दूर शासकीय दफ्तरों में जाने का अवसर मिला, कहीं भी किसी भी दफ्तर में अंग्रेजी का इस्तेमाल होते हुए नहीं देखा। आप चाहे विदेश मंत्रालय में चले जायें या गृह मंत्रालय या पुलिस चौकी या किसी राज्यपाल के दफ्तर में, आप पायेंगे कि बड़े से बड़ा अधिकारी अपनी देश-भाषा का प्रयोग करता है। अफगानिस्तान में मैं विदेशी था लेकिन अफगान विदेश मंत्रालय ने राज्यपालों के नाम मेरे लिये जो पत्र दिये वे 'दरी' में थे, अंग्रेजी में नहीं।

इसी प्रकार सोवियत रूस में 'इंस्तीतूते नरोदोफ आजी' के निदेशक ने मस्क्वा के विभिन्न पुस्तकालयों के नाम मुझे जो पत्र दिये, वे रूसी भाषा में थे। इस संस्था के निदेशक प्राचार्य गफूरोव जो कि रूस के श्रेष्ठतम विद्वानों में से एक थे, अंग्रेजी नहीं जानते। उनके अलावा अन्तरराष्ट्रीय मामलों के ऐसे अनेकों रूसी विद्वानों से भेंट हुई जो अंग्रेजी नहीं जानते। जो अंग्रेजी जानते हैं, वे भी अपनी रचनाएं रूसी भाषा में ही लिखते हैं और फिर उनका अनुवाद होता है। अंग्रेजी या फ्रांसीसी उनके लिये आकलन की भाषा है, सूचना देनेवाला एक माध्यम है, उनकी

अभिव्यक्ति को कुंठित करने वाला गलाघोंटू उपकरण नहीं है। मस्क्वा में सैकड़ों भारतीय विद्यार्थी विज्ञान और इंजीनियरी का उच्च अध्ययन कर रहे हैं। उन्हें सारी शिक्षा रूसी भाषा के माध्यम से ही दी जाती है। मस्क्वा में एक-बार हम लोग विज्ञान और तकनीक की प्रदर्शनी देखने गये। वहां मालूम पड़ा कि जिस वैज्ञानिक ने अंतरिक्ष यान आदि के आविष्कार किये हैं, उसने अपनी रचनाएं रूसी भाषा में लिखी हैं।

इसी प्रकार जर्मनी और फ्रांस के विश्वविद्यालयों में ऊंची से ऊंची पढ़ाई उनकी अपनी भाषाओं में होती है। विश्वविद्यालयों के कई महत्वपूर्ण प्राचार्य अंग्रेजी नहीं बोल सकते थे। आस्ट्रिया में मैं वियना के एक विश्वविद्यालय में दर्शन के कुछ अध्यापकों से मिलना चाहता था। मेरे साथ कोई दुभाषिया नहीं था। कोई आधा घंटा परेशान होने के बाद एक आदमी ऐसा मिला जो मेरी बात का जर्मन भाषा में तर्जुमा कर सकता था।

लंदन में 'लंदन स्कूल आफ इनकॉमिक्स' की ओर से एक अन्तरराष्ट्रीय परिसंवाद हुआ। उसमें यूरोप के विभिन्न देशों से अनेक विद्वान आये थे। या तो हिन्दुस्तानी विद्वान् अंग्रेजी बोलते थे या हमारे पुराने स्वामी अंग्रेजी बोलते थे। यूरोप के विद्वान या तो ज्यादातर चुप बैठे रहते थे या टूटी-फूटी अंग्रेजी में बोलते थे। जब 'इटली के गांधी' श्री दानियेल दोल्ची ने अपना भाषण इतालवी जुबान में किया तो मेरी भी हिम्मत बढ़ी। मैंने अपनी बात हिन्दी में कही जिसका तर्जुमा श्री निर्मल वर्मा ने किया। तत्पश्चात् जो अन्य यूरोपीय लोग वहां चुप बैठे थे, वे भी अपनी-अपनी भाषाओं में बोलने लगे। और किसी न किसी ने उनके भाषणों का भी तर्जुमा कर दिया। वहां लगभग आधा दर्जन भारतीय थे और एकाध सज्जन को छोड़कर सभी लोग त्रुटिपूर्ण और भद्दी अंग्रेजी बोल रहे थे लेकिन अपनी जुबान का ठीक इस्तेमाल करने की हिम्मत किसी की भी नहीं हो रही थी।

चेकोस्लोवाकिया में वहां के प्रसिद्ध जन-नेता और संसद के अध्यक्ष डा. स्मरकोवस्की से जब मैं मिलने गया तो उनके विदेश मंत्रालय ने एक ऐसा दुभाषिया भेजा, जो अंग्रेजी से चेक में अनुवाद करता था। मैंने कहा मैं भारतीय हूँ, मेरे लिये अंग्रेजी वाला दुभाषिया क्यों भेजा? उन्होंने कहा आपके देश से आने वाले विद्वान, नेता और कूटनीतिज्ञ अंग्रेजी का ही प्रयोग करते हैं। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि डॉ. स्मरकोवस्की जैसे राष्ट्रनेता यूरोपीय होने के बावजूद भी अंग्रेजी का प्रयोग नहीं करते। इसी प्रकार अफगानिस्तान के भूतपूर्व प्रधानमंत्री सरदार दाउद, जो कि अपने देश के इतिहास में सब से बड़े शासकों में से एक माने जाते हैं, अंग्रेजी में बात नहीं कर सकते थे। उन के साथ मेरी बातचीत 'दरी' में ही हुई।

## नामपट अंग्रेजी में नहीं

ब्रिटेन को छोड़कर, यूरोप के बाजारों में आपको एक भी नामपट अंग्रेजी में नहीं मिल सकता। हर देश के लोग अपनी-अपनी भाषा में ही अपनी-अपनी दुकानों के नाम लिखते हैं।

दुकानों में बिकने वाली चीजों पर लगी मोहरें भी अपनी ही भाषा में होती हैं। कई दुकानो में से तो मुझे वापस लौट आना पड़ता था, क्योंकि सामान बेचने वाली लड़कियाँ सिर्फ फ्रांसीसी भाषा में ही बोलती थीं। यदि आप उनसे अंग्रेजी मे बोले तो वे इसका बहुत बुरा मानती हैं।

यदि आप अंग्रेजी के सहारे बैठे रहें तो यूरोप में तो भूखो मर जायें। चेकोस्लोवाकिया में मैंने एक होटल में वहां की भोजन परोसने वाली महिलाओं को बहुत समझाया कि मैं मास नहीं खाता हूं, लेकिन वे बार-बार मास की तश्तरी ले आती थीं। तब एक वृद्ध महिला ने आकर पूछा कि 'क्या आप भारतीय है' तो मैंने कहा 'हां।' तब उन्होंने चेक भाषा में ही पूछा कि 'क्या आप योगी हैं'। मैंने उन्हे रूसी भाषा में बताया कि 'मैं योगी तो नहीं हूं लेकिन शाकाहारी हूं', तब जाकर कहीं भोजन मिला।

वैसे यूरोप की राजधानियों में तथा बड़े शहरों में फिर भी कुछ लोग अंग्रेजी जानने वाले मिल जाते हैं लेकिन यदि आप किसी देश के आन्तरिक भागों में चले जायें तो या तो आपके साथ दुभाषिया हो या आप इशारों और सामान्य बुद्धि का प्रयोग करें तभी काम चल सकता है। अधिकांश देशों में मेरे मित्र ही दुभाषिये का काम कर देते थे और जहां मुझे अकेले जाना पड़ता था, भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। हर देश के दैनिक अखबार अपनी स्थानीय भाषा में निकलते हैं। वहां अंग्रेजी अखबार प्राप्त करना काफी कठिन होता है। स्विटजरलैंड में मैं लीस्ताल नामक एक गांव में रहता था। वहां एक से एक बढ़िया स्विस अखबार मिल सकते थे लेकिन यदि आपको अंग्रेजी भाषा में ब्रिटिश और अमरीकी अखबार खरीदना हो तो ज्यूरिक या बर्न जाना होगा।

विदेशों में भारतीय दूतावासों में सभी दूर अंग्रेजी का बोलबाला है, चाहे वह काबुल हो या पेरिस। हमारे दूतावासों के सारे कर्मचारियों में से मुश्किल से एक दो कर्मचारी ऐसे होते हैं जो उस देश की भाषा जानते हैं, जिस देश मे उन्हें कूटनीति चलाना है। उन्हें कूटनीति करना है फ्रांसीसियों के साथ और भाषा बोलते हैं अंग्रेजों की। हमारे शिक्षक पढ़ाते हैं अफगान बच्चों को और उस भाषा का इस्तेमाल करते हैं जो अंग्रेज बच्चों को पढ़ाने के लिए की जानी चाहिए। शायद हम लोगों ने भाषा के महत्व को बिलकुल भी नहीं समझा है।

हम नहीं जानते कि जब हम सामने वाले की भाषा का सम्मान करते हैं और उसी मे बोलते हैं तो उसे कितनी प्रसन्नता होती है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे रूस और अफगानिस्तान में हुआ। किसी मेवा बेचने वाले पठान से मैं चार बात काबुली भाषा में कर लेता हूं तो उसका दिल भर आता है। रूस में रूसी विद्वानों को यह देखकर बहुत ही प्रसन्नता हुई की मेरे हिन्दी में लिखे शोधग्रंथ की कुछ पाद टिप्पणियां रूसी भाषा में थीं। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम दुनिया में कहीं जायें, अंग्रेजी का इस्तेमाल करते हैं। इस प्रवास में मुझे अनेक कूटनीतिक रात्रिभोजों में शामिल होने का अवसर मिला। इन भोजों में हिन्दुस्तानी कूटनीतिज्ञ अपने साथियों और देशवासियों से अंग्रेजी में बात करते हैं जब कि दूसरे देशों के कूटनीतिज्ञ अपने साथियो से

उनकी अपनी जुबान में बात करते हैं। कितना अच्छा हो कि हमारे दूतावास के कर्मचारी, जिस देश में दूतावास है, उस देश की भाषा सीखें और अपने देशवासियों से स्वदेशी भाषाओं में बात करें।

## पिछलग्गू बौद्धिक

मैं जिस देश में भी जाता, अन्य सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों के अलावा भाषा के सवाल पर बहस जरूर होती क्योंकि मेरा शोधग्रंथ हिन्दी में था, इसलिए भाषा का सवाल घूम फिरकर आ ही जाता। अफगानिस्तान और सोवियत संघ के जिन जिम्मेदार लोगों को "इंडियन स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज" के साथ हुए मेरे भाषायी विवाद का पता था, उनमें से कई ने इस कदम को उचित बताया और सोवियत विद्वानों ने तो यह भी कहा कि मैं चाहूं तो मेरा शोधग्रंथ वे हिन्दी और रूसी भाषा में भी छपवा सकते हैं। इसके विपरीत ब्रिटेन और अमरीका में वहां के विद्वानों को इस बात का भारी दुःख था कि मैंने उनकी महान भाषा को चुनौती दे दी थी। जैसे कि मैंने अंग्रेजी के एकाधिकार को चुनौती देकर भारी पाप किया है।

कनाडा में 'इन्डो-कनाडियन इंस्टीट्यूट' के कार्यकारी निदेशक से भारत में बौद्धिक उपनिवेशवाद के विषय पर चर्चा हुई। उनको मैंने यह सुझाव दिया कि इस संस्था की स्थापना श्री लालबहादुर शास्त्री की स्मृति में हुई है। अतः आप कम से कम इतना करें की इस संस्था के अन्तर्गत किये गये शोधकार्यों का भारतीय भाषाओं में तुर्जुमा करवायें तथा भारतीय भाषाओं में कार्य करनेवाले विद्वानों को विशेष रूप से छात्रवृत्तियां दें। उन्होंने कहा कि उन्हें तो ये सुझाव मंजूर हैं लेकिन पता नहीं भारतीय शिक्षा-मंत्रालय की क्या प्रतिक्रिया होगी। तब मैंने कहा "उसका तो मुझे भी पता नहीं है।"

कई अमरीकी विश्वविद्यालयों में भाषा के सवाल को लेकर अमरीकी प्रोफेसरों से सुतीक्ष्ण विवाद चले। मैंने उन विद्वानों को नम्रतापूर्वक यह बताने की कोशिश की कि कुछ भारतीयों द्वारा अंग्रेजी को एकांगी महत्व देने का परिणाम यह हुआ है कि भारत के अधिकांश बुद्धिजीवियों की मौलिक प्रतिभा कुंठित हो गयी है, वे आपके बौद्धिक पिछलग्गू हो गये हैं और वे लफ्फाजी को बौद्धिकता समझने लगे हैं। फलस्वरूप पिछले दो-ढाई सौ साल में भारत में स्वतंत्र चिन्तन की परम्परा को ठेस लगी। जो कुछ अंग्रेज और अमरीकी लोग लिखते-पढ़ते हैं, हिन्दुस्तान के अंग्रेजीपरस्त बुद्धिजीवी उसी की जुगाली करते रहते हैं। वे आपके और हिन्दुस्तान की जनता के बीच बौद्धिक दलाली करते हैं। अंग्रेजी के कारण आपके और उनके रिश्ते बढ़ गये हैं और उनके और हिन्दुस्तान की आम जनता के बीच खाई बढ़ती जा रही है।

जब अमरीकी राजनीतिज्ञ और विद्वान् मुझसे कहते कि वे हिन्दुस्तान की जनता से दोस्ती करना चाहते हैं तो मैं उनसे उपरोक्त बात कहकर पूछता कि अगर आप हिन्दुस्तान की जनता से

करने की छूट राष्ट्रपति दे सकता है लेकिन अदालतों के निर्णय, आदेश आदि केवल अंग्रेजी में होंगे। इसी प्रकार प्रान्तीय विधान सभाओं के कानून चाहे प्रान्तीय भाषाओं में हों लेकिन केवल उनके अंग्रेजी अनुवाद ही प्रामाणिक माने जायेंगे। इतना ही नहीं, इस धारा में फेर-बदल करने के लिए संसद को कोई अधिकार नहीं दिया गया। संसद यदि इस प्रावधान में कोई परिवर्तन करना चाहे तो उसे राष्ट्रपति तब तक इस विषय में अपनी सहमति नहीं देगा जब तक कि वह भाषा-आयोगों और संसदीय समितियों की रपट पर विचार न कर ले।

दूसरे शब्दों में जनता को भरमाने के लिए राजभाषा के रूप में हिन्दी का मुखौटा सामने कर दिया गया और इस निर्जीव मुखौटे के नीचे एक सजीव और चालाक चेहरा अंग्रेजीवाला रख दिया गया। ज्यों-ज्यों समय बीता, मिट्टी का मुखौटा गलने लगा और अंग्रेजीवाला असली चेहरा उभरने लगा। १९५५ में शासकीय भाषा-आयोग बना, उसने राष्ट्रपति के सामने १९५६ में और संसद के सामने १९५७ में अपनी सिफारिशें पेश कीं। संसद की राजभाषा समिति ने इन सिफारिशों पर विचार करते हुए १९५० के संवैधानिक प्रावधानों को शीर्षासन करा दिया और दो टूक शब्दों में कहा कि १९६५ तक अंग्रेजी को संघ की मुख्य राजभाषा और हिन्दी को उसकी सह-राजभाषा के रूप में रखा जाये।

१९६५ तक मलिका दासी के पांव धोये और जब १९६५ में हिन्दी मुख्य राजभाषा बने तो अंग्रेजी को तब तक जरूरत हो तब तक कुछ विशेष कार्यों के लिए सह-राजभाषा के रूप में बनाए रखा जाये। दूसरे शब्दों में, भाषा आयोग और भाषा-समिति दोनों ने अंग्रेजी के प्रयोग को सीमित करने के बजाय उसे किसी न किसी रूप में बढ़ाने और टिकाये रखने की सलाह दी। जब बागड़ ही खेत चरने लगे तो खेत का अल्ला ही बेली है।

१९५९ में संसद में पं. जवाहरलाल नेहरू ने अहिन्दी भाषी राज्यों को अंग्रेजी के प्रश्न पर निषेधाधिकार प्रदान कर दिया। उन्होंने आश्वासन दे दिया कि जब तक अहिन्दी भाषी राज्य चाहेंगे, संघ के कार्यों में अंग्रेजी का रुतबा कायम रहेगा। १९६० में इसी आशय का आदेश राष्ट्रपति ने जारी कर दिया। गृह मंत्रालय ने एक आदेश में साफ-साफ कहा कि संघ के कार्यों के लिए वर्तमान में अंग्रेजी के प्रयोग पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाये। १९६३ में भारत सरकार ने राजभाषा विधेयक प्रस्तुत कर दिया, जिसका उद्देश्य तत्कालीन गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री के शब्दों में एक "अनवरत द्विभाषावाद" को चलाये रखना था।

इस विधेयक ने अंग्रेजी को अनंत काल तक हिन्दी की सह-राजभाषा का पद देकर उस मुखौटे को भी नोंचकर फेंक दिया जो १९५० में जनता के डर के मारे सरकार ने अंग्रेजी वाले मुख पर चढ़ा रखा था। १९६३ के भाषा विधेयक ने संघ लोक-सेवा आयोग में हिन्दी के प्रयोग की मृग-मरीचिका को भी जागृत किया लेकिन मद्रास और बंगाल के दबाव के कारण वह एक पवित्र इरादा मात्र बनकर रह गई।

१९६५ में हिन्दी स्वतः ही भारत की प्रमुख राजभाषा बन गई। दक्षिण का विरोध उग्र होता

गया। परिणामस्वरूप १९६७ में भारत सरकार ने १९६३ के राजभाषा विधेयक में संशोधन पेश किया, जिसे १९६८ में संसद ने स्वीकार कर लिया। इस संशोधित राजभाषा विधेयक में ऐसा प्रावधान कर दिया गया कि जब तक एक भी अहिन्दी भाषा राज्य चाहेगा, संघ सरकार का कार्य अंग्रेजी में चलता रहेगा। हिन्दी भाषी राज्य यदि किसी अहिन्दी भाषी राज्य को पत्र लिखेगा तो उसका अंग्रेजी अनुवाद साथ में भेजना पड़ेगा। तथा जब तक कर्मचारी अच्छी हिन्दी न सीख लें तब तक संघ सरकार के विभिन्न विभागों में हिन्दी पत्रों के साथ अंग्रेजी अनुवाद संलग्न करना आवश्यक है। याने अंग्रेजी अनिवार्य रूप से बनी रहेगी। इसका उल्टा नहीं होगा अर्थात् यदि कोई विभाग अंग्रेजी में पत्र भेजे या कोई हिन्दी-भाषी राज्य को अंग्रेजी में पत्र भेजे तो उसके साथ उसका हिन्दी अनुवाद भेजना जरूरी नहीं है।

१९६८ के इस संशोधित अधिनियम में जहां अंग्रेजी को अनंत काल तक बनाये रखने की साजिश की गई थी, वहां केवल यह बात आशा की एक किरण के रूप में थी कि संघ लोक-सेवा आयोग की भर्ती की नौकरियों में, आयोग से परामर्श करने के बाद सभी क्षेत्रीय भाषाओं को परीक्षा का वैकल्पिक माध्यम बना दिया जायेगा तथा "संघीय नौकरियों में भर्ती के लिए चयन के समय उम्मीदवारों को हिन्दी या अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य रूप से होना चाहिए।" अर्थात् हिन्दी या अंग्रेजी दोनों में से यदि उम्मीदवार को किसी भी एक भाषा का ज्ञान होगा तो उसका चयन हो सकता है। दूसरे शब्दों में, पहली बार अंग्रेजी को एच्छिक बनाया गया। अंग्रेजी के ज्ञान के बिना भी किसी व्यक्ति का चयन संघ लोक-सेवा आयोग के लिए हो सकता है।

संशोधित भाषा अधिनियम को पारित हुए बीस साल हो गये हैं। संघ लोक-सेवा आयोग अभी तक सोया हुआ है। संसद में मंत्रिगण थोथे आश्वासन देते रहते हैं। सरकारी परीक्षाओं में अंग्रेजी की अनिवार्यता पूर्ववत कायम है। अंग्रेजी नहीं जाननेवाले या कम जाननेवाले उम्मीदवारों के लिए भर्ती और पदोन्नति के मार्ग अवरुद्ध हैं। कुछ साल पहले अनुवाद ब्यूरो के एक कर्मचारी श्री कोमल किशोर सिंघल का मामला सामने आया था। सभी आवश्यक योग्यताओं के बावजूद सिंघल की पदोन्नति रोक देने के लिए यह शर्त लगा दी गई कि उन्हें अंग्रेजी के अनिवार्य पर्चे में पास होना पड़ेगा। पद है हिन्दी टाइपिस्ट का और अनिवार्य है अंग्रेजी का जानना। कितनी विडम्बना है? यह संशोधित भाषा-अधिनियम का सरासर उल्लंघन है। लेकिन मंत्रिगणों के माथे पर जूं भी नहीं रेंगती। पिछले दिनों बिहार के श्यामरुद्र पाठक और अमरेन्द्र सिंह आदि नौजवानों ने 'इंडियन इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालॉजी' में संघर्ष चलाया। कितनी लज्जा की बात है कि आजाद भारत में उन्हें अपनी भाषाओं के लिए अनशन करना पड़ा।

इसी प्रकार दिल्ली प्रशासन के भर्ती के विज्ञापनों में उम्मीदवारों के लिए हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी की जानकारी को अनिवार्य शर्त माना गया है। इससे बढ़कर लज्जा की बात क्या हो सकती है कि दिल्ली जैसे हिन्दी भाषी इलाके में किसी नौजवान के पेट पर सिर्फ इसलिये लात मार दी जाय कि वह अंग्रेजी में प्रवीण नहीं है? दिल्ली में बैठकर लन्दन की भाषा के लिए दुराग्रह करना फूहड़पन ही है। लेकिन गांधीजी के इन शिष्यों को कौन बरज सकता है?

## आजादी में पूरे गुलाम

वास्तव में, भारत के संविधान में राजभाषा का अध्याय भारतीय भाषाओं को राजतिलक करने का अध्याय नहीं है बल्कि भारत की कोटि-कोटि जनता पर अनन्त काल तक अंग्रेजी को थोपने का अध्याय है। संविधान के लागू होने के बाद देश में अंग्रेजी का दबदबा बढ़ा है। अंग्रेज के जमाने में केन्द्रीय अफसरों के लिए क्षेत्रीय भारतीय भाषाएं सीखना आवश्यक था। जब आजादी आई तो सिर्फ अंग्रेजी जानना जरूरी रह गया। गुलामी में हम आधे गुलाम थे आजादी में हम पूरे गुलाम हो गये।

अंग्रेज के जमाने में प्रशासन में ऊपर-ऊपर अंग्रेजी थी, नीचे-नीचे स्थानीय भाषाएं। आजादी आई तो ऊपर नीचे सभी तरफ अंग्रेजी हो गई। पहले वह केन्द्र और प्रान्त की राजधानी में थी, अब वह कस्बों और गांवों में भी पहुंच गई। सरकारी दफ्तरों का लगभग सारा काम-काज अंग्रेजी में होता है। क्या आप विश्वास करेंगे कि सरकार ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जो संस्थाएं बनाई हैं, उनका दफ्तरी काम-काज भी अंग्रेजी में चलता है?

जब देश गुलाम था तो करीब छह सौ राजाओं के राज-क्षेत्र में ऊंचे से ऊंचे स्तर तक भारतीय भाषाएं चलती थीं। जहां तक भाषा का सवाल है, राजा और प्रजा के बीच, हुक्म और फरियाद के बीच कोई दीवाल नहीं थी। आजादी आई। राज खतम हो गये। उनकी जगह जो नये राजा आये उन्होंने अपने चारों तरफ अंग्रेजी की दीवाल खड़ी कर ली। सारी जनता पर संविधान ने अंग्रेजी थोप दी। जो क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में थे वहां तो अंग्रेजी चल ही रही थी। अब राज्यों के विलयन का नतीजा यह हुआ कि राज्य वाले इलाकों में भी अंग्रेजी चल पड़ी।

भारत का प्रशासन पिछले चालीस सालों में जादू-टोना बनकर रह गया। स्वाधीन भारत के राष्ट्रपति गणतंत्र दिवस पर अपना संदेश अंग्रेजी में देते हैं। स्वाधीन भारत के प्रधानमंत्री संसद में अंग्रेजी में बोलते हैं। स्वाधीन भारत की पंचवर्षीय योजनाएं अंग्रेजी में बनती हैं। स्वाधीन भारत का प्रामाणिक संविधान केवल अंग्रेजी में है। स्वाधीन भारत के मंत्रिमंडल और संसद की अधिकांश कार्रवाई अंग्रेजी में ही चलती है। जिन कामों का जनता से सीधा संबंध है, वे सब काम उस भाषा में होते हैं जिसे जनता नहीं समझती।

इसीलिए आजादी के चालीस साल बाद भी गांव का एक किसान जब संसद की दर्शक-दीर्घा में आकर बैठता है तो उसके लिए संसद का मतलब लाल-पत्थरों और कुछ बड़बड़ाते हुए संसत्सदस्यों के अलावा कुछ भी नहीं होता। उसने कभी "हैबियस कारपस रिट" का नाम नहीं सुना। पुलिस की हिरासत में अपनी मुक्ति के लिए आज भी वह उसी तरह गिड़गिड़ाता है, जिस तरह वह आज से चालीस साल पहले गुलाम भारत में गिड़गिड़ाता था। आजादी ने उसे क्या दिया? जुबान भी नहीं दी। सरकार, संसद, पंचवर्षीय योजना, न्याय, शिक्षा-सब उसके लिए

जादू-टोना है। गुलामी के दिनों में कम से कम राजाओं की अदालतों में होने वाली उसकी क़िस्मत के फैसलों को वह समझ तो सकता था। उसकी अपनी जुबान में बहस और फैसले होते थे। आजादी ने उसकी समझ पर भी अंग्रेजी का पर्दा डाल दिया। उसके जीवन और मरण के सवाल पर अदालत में आज अंग्रेजी में बहस होती है और वह बहरे की तरह खड़े-खड़े बस देखते रहता है। वह गूंगा भी है, क्योंकि अंग्रेजी नहीं बोल सकता। वह उस जुबान में नहीं बोल सकता जिसे "बड़े लोग' समझते हैं। हिन्दुस्तान के आम आदमी को इस व्यवस्था ने, इस संविधान ने गूंगा और बहरा बना दिया है। जिस देश में व्यवस्था आम आदमी को गूंगा और बहरा बनाती है, वहां लोकतंत्र, सच्चा लोकतंत्र कैसे आ सकता है?

देश की व्यवस्था कुछ तथाकथित 'बड़े लोगों' के हाथों में सिकुड़ती गई है। व्यवस्था का दूध 'बड़े लोगों' का यह छोटा-सा वर्ग पी रहा है। व्यवस्था के लिए, आजादी के लिए खून देने वाले छोटे-छोटे लोगों का बड़ा वर्ग बाहर खड़ा है और इन दोनों वर्गों के बीच हमारे संविधान ने, शासन ने एक दीवाल खींच रखी है। उस दीवाल का नाम है — अंग्रेजी। जब तक आप इस दीवाल को नहीं फांदते, आप भी बाहर खड़े-खड़े हाथ मलते रहिये। यह सिर्फ संयोग की ही बात नहीं है कि दूध पीनेवाला वर्ग अंग्रेजी के साथ जुड़ हुआ है और खून देनेवाला भारतीय भाषाओं के साथ। दूध पीनेवाले अंग्रेजी की हिफाजत करते हैं और अंग्रेजी दूध पीनेवालों को सलामत रखती है।

क्या आपने कभी सोचा कि इस देश में जिन्हें मोटी-मोटी तनख्वाहें मिलती हैं, वे कौन है? क्या आप आपने कभी ध्यान दिया कि रेल की प्रथम श्रेणी में यात्राएं करने वाले लोग कौन हैं? क्या आपने हवाई जहाज में यात्रा करने वाले लोगों के बारे में जानकारी निकाली? क्या आप जानते हैं कि देश की शानदार कालोनियों में कौन लोग रहते हैं? ये वे सब लोग है, जिन्हें आप अंग्रेजीदां कह सकते हैं। अंग्रेजी के साथ रुतबा, विशेषाधिकार, आनन्द के साधन आदि जुड़े हुए हैं और भारतीय भाषाओं के साथ?

भारतीय भाषाओं के साथ, आम आदमी की जुबान के साथ गरीबी, उत्पीड़न और एक अभिशप्त जीवन जुड़ा हुआ है। इस अभिशप्त जीवन के भागीदार भारत में करोड़ों की संख्या में हैं। वे अपने अभिशापों से उबरना चाहते हैं। उनमें उबरने की क्षमता भी है, लेकिन वे यदि सचमुच उबरने लगे तो क्या होगा? कोहराम मच जायेगा। विशेषाधिकार बंटेगा, धन और धरती बंटेगी, सुविधाएं बंटेंगी, रुतबा बंटेगा। ऐसा होने पर दूध पीनेवाले वर्ग के पास क्या बच रहेगा? उसमें और आम जनता में क्या फर्क रह जायेगा?

दूध पीने वाला वर्ग अपनी चीजों को बचाना चाहता है। अपनी चीजों को बचाने का एक तरीका यह भी है कि उन्हें पाने का रास्ता जरा कठिन बना दो। पुराने जमाने में राजा अपने किले की रक्षा कैसे करता था? फौज तो रखता ही था। साथ में किले को या तो ऊंची पहाड़ी पर बनवाता था या उसके चारों तरफ खाई खुदवा देता था ताकि दुश्मन से जब सामना होगा तब होगा ही लेकिन पहले तो ऐसी व्यवस्था की जाये कि वह किले के नजदीक ही न फटक सके।

# अंग्रेजी की खाई

ये जो दूध पीने वाला वर्ग है, यह सुविधाओं के किले में पिछले दो सौ सालों से जमा हुआ है। इस किले के चारों तरफ उसने अंग्रेजी की खाई खोद दी है। देश के करोड़ों नौजवान जब इस किले को देखते हैं तो उनका पौरुष हुंकारता है लेकिन जब वे चारों तरफ अंग्रेजी की भयंकर खाई को देखते हैं तो उनका दिल टूट जाता है। अंग्रेजी के जरिये करोड़ों लोगों को आगे बढ़ने से रोका जाता है। बीच में ही दिल तोड़ दिये जाते हैं। हर बड़ी नौकरी के लिए, हर बड़ी तनख्वाह के लिए, हर रुतबे के लिए, हर योग्यता के लिए अंग्रेजी पहली शर्त है। इसका नतीजा क्या होता है? इसका नतीजा सीधा-सादा है। जो सुविधासम्पन्न वर्ग है, वह बेहद खर्चीले अंग्रेजी स्कूलों में अपने बच्चों को भेजकर अंग्रेजी का तोतारटन्त, नकलची और सुविधाखोर वर्ग तैयार करता है। यह नया वर्ग हर बीस-तीस साल में पुराने वर्ग के स्थान पर आ धमकता है। वर्ग-हितों की इस धारावाहिकता की रक्षा का बहुत बड़ा श्रेय अंग्रेजी को है।

आजादी के पिछले चालीस वर्षों में इस निहित स्वार्थों वाले वर्ग ने संविधान के उन प्रावधानों की भी जान-बूझकर अवहेलना की है जिनके पालन से शायद भारतीय भाषाओं का अधिक प्रचलन होता। वैसे स्वयं संविधान में अंग्रेजी के लिए काफी सम्मानीय स्थान प्रदान किया गया है। मेरी राय में तो भारत की जनता और उसके प्रतिनिधियों को चाहिए कि संविधान के भाषा संबंधी भाग को फिर से पूरा लिखने की मांग करें और नये भाषा प्रावधान में अंग्रेजी का कहीं नाम तक भी नहीं आये बल्कि हो सके तो उसमें यह प्रावधान किया जाये कि एंग्लो-इण्डियन और विदेशियों के अलावा हिन्दुस्तान में जो भी अंग्रेजी का सार्वजनिक प्रयोग करेगा उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जायेगी। सारे देश के प्रशासन को हिन्दी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के द्वारा जोड़ा जाये। आवश्यक हो तो केन्द्र बहुभाषी बने। संघ लोक-सेवा आयोग की परीक्षाएं हिन्दी एवम् अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से हो।

एक बार अंग्रेजी की दीवाल पूरी तरह से ढही कि उत्तर और दक्षिण की भाषाएं एकमेक हुईं। हिन्दी का अकड़ू और तमिल का सिकड़ू अपने-आप पास-पास आयेंगे। उन्हें आपस में बात तो करनी ही पड़ेगी। पहले को अपनी अकड़ छोड़नी पड़ेगी और दूसरी को अपनी सिकुड़न! आज उत्तर और दक्षिण अंग्रेजी की नकली जमीन पर खड़े होकर बात करते हैं। कल वे अपनी-अपनी जमीन पर खड़े होकर बात करेंगे। अधिक आत्म-विश्वास होगा। एक दूसरे के असली रूप को देख सकेंगे। बात, बात से भी आगे बढ़ेगी। गल-मिलव्वल होगी। दिल से दिल मिलेंगे। एक नया भारत बनेगा।

संविधान से अंग्रेजी के खात्मे का सबसे बड़ा परिणाम यह होगा कि एक छोटे-से-छोटे आदमी का सीना भी चौड़ा होगा। अपनी जुबान के जरिये वह किसी भी बड़े से बड़े पद पर पहुंचने की बात कम से कम सोच तो सकेगा। यह जरूरी नहीं है कि अंग्रेजी के हट जाने के

दूध पीनेवाले और खून देनेवाले लोगों के बीच जो खाई है, वह पूरी तरह से पट जायेगी। वर्गभेद की इस खाई के निर्माण के लिये अंग्रेजी के साथ-साथ कुछ दूसरे तत्व भी जिम्मेदार हैं। अंग्रेज़ी के हटने से इतना तो जरूरी होगा कि इस खाई को पाटने का रास्ता खुल जायेगा। और जब एक बार रास्ता खुल जाये तो मंजिल पर पहुंचना कठिन नहीं रह जाता।

□

# अंग्रेजी कैसे हटायें?

वाराणसी और नागपुर के अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन अपूर्व थे। इन सम्मेलनों में देश के विभिन्न कोनों से हजारों प्रतिनिधि आये थे। तमिलनाडु, आंध्र, बंगाल, केरल, उड़ीसा तथा अन्य अहिन्दी भाषी प्रदेशों से भी काफी लोगों ने सम्मेलन में भाग लिया। भाग लेने वालों में बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ, नौजवान, पत्रकार तथा कुछ व्यवसायी भी थे। सम्मेलन की सारी बैठकें और सभाएँ उत्साही नौजवानों से पटी हुई थीं।

वहां उपस्थित नौजवानों के अग्निवर्षक भाषणों को सुनकर ऐसा लगता था कि यदि कोई इशारा मिल जाये तो वे जमीन और आसमान एक कर देंगे। उनमें वह उत्साह और संकल्प दिखाई पड़ रहा था, जो जनक की सभा में लक्ष्मण के मन में जगा था। उनके चुनौती भरे चेहरे रह-रहकर नेतृत्वरूपी राम से आग्रह कर रहे थे कि यदि तुम्हारा संकेत मिल जाये तो हम लोग अंग्रेजी के शिव-धनुष को कुकुरमुत्ते की तरह एक झटके में तोड़कर फेंक दें।

## कार्यक्रम

सम्मेलन का राम वैदेही के राम से अधिक कृतसंकल्प था। उसने इशारा कर ही दिया। सम्मेलन के नेतृत्व ने क्रांतिकारी निर्णय किये और उन्हें बेझिझक सबके सामने प्रकट कर दिये। सारी बहस और निर्णयों का सार तत्व यह था कि अंग्रेजी के सार्वजनिक प्रयोग को असभ्यता का चिन्ह माना जाना चाहिये और जिस प्रकार किसी भी असभ्यतापूर्ण कृत्य का हम तीखा प्रतिकार करते हैं, उसी प्रकार जहां-जहां भी अंग्रेजी का सार्वजनिक प्रयोग हो, इस आन्दोलन के स्वयंसेवक कड़ी कार्रवाई करें।

इन कार्रवाइयों के अन्तर्गत अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापकों की कक्षा का बहिष्कार, अंग्रेजी नामपटों को पोतना, अंग्रेजी के प्रतीक-चिन्हों जैसे अंग्रेजी अखबारों, टाइपराइटरों, टेलीप्रिन्टरों तथा उन व्यापारिक संस्थानों के सामानों की होली जलाना, जो अपनी वस्तुओं पर अंग्रेजी में विक्रय-चिन्ह लगाते हैं। सार्वजनिक सभाओं में तथा संसद और विधान सभाओं में अंग्रेजी बोलने वाले नेताओं और मंत्रियों का घेराव करना तथा उन शासकीय संस्थानों, अंग्रेजी स्कूलों, लोकसेवा आयोगों और नौकरशाहों के घरों पर धरना देना, जो अंग्रेजी में काम चलाते हैं।

यह तो आन्दोलनात्मक पक्ष हुआ। सम्मेलन का एक पक्ष और भी है। उसने अध्यापकों, न्यायाधीशों, व्यापारियों, पत्रकारों और आम जनता से यह अनुरोध किया है कि वे अपने सारे कार्यों में से अंग्रेजी को तत्काल निकाल बाहर करें। सम्मेलन ने सरकार से आग्रह किया है कि शासकीय कार्यों से वह अंग्रेजी को एकदम बहिष्कृत कर दे। सच पूछा जाये तो यह निवेदन नहीं, एक चेतावनी है। चेतावनी यह है कि यदि आप अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल फौरन बन्द नहीं करेंगे तो हमें वे कदम उठाने पड़ेंगे, जो ऊपर गिनाये गये हैं।

उपरोक्त बातों से यह साफ है कि सम्मेलन ने बजाय इस बात के कि अंग्रेजी क्यों हटायी जाये, इस बात पर बहस चलाई कि अंग्रेजी कैसे हटाई जाये और तत्काल कैसे हटाई जाये? दूसरे शब्दों में सम्मेलन में आये प्रतिनिधियों का यह सुदृढ़ मत था कि अंग्रेजी से तत्काल छुटकारा पाया जाना चाहिये। और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने बहस करके उक्त कार्यक्रम स्वीकार किया।

## सीधी कार्रवाई

जो कार्यक्रम ऊपर बताया गया उसे पढ़कर और देखकर कुछ लोग यह कहते हैं कि आप तोड़-फोड़ और हिंसा में विश्वास करते हैं। आपका रास्ता विध्वंसकारी है, रचनात्मक नहीं है। इस सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि मूल रूप से हम तोड़-फोड़ और हिंसा को एक उपयोगी और उचित तरीका नहीं मानते, लेकिन यह देखा जाता है कि कभी-कभी जगाने और सावधान करने के कामों को भ्रमवश तोड़-फोड़ की कार्रवाई समझा जाता है। जैसे पहरेदार के द्वारा रात को लाठी फटकारने की आवाज को लट्ठबाजी समझकर कुछ लोग कभी-कभी नींद से चौंक जाया करते हैं।

इसी प्रकार नामपट आदि पोतना तो लोगों की मदद करना है। लोग जानते भी हैं और मानते भी हैं कि नामपट अंग्रेजी में नहीं होना चाहिये, लेकिन आलस और थोड़े से खर्चे के डर के मारे वे उन्हें बदलते नहीं। ऐसी हालत में यदि स्वयंसेवक कुछ नामपटों को पोत देते हैं, तो उसमें बुरा क्या है? और फिर कुछ नामपटों के पुतने से एक लाभ यह भी होता है कि सारे शहर के नामपट रातोंरात बदल जाते हैं। दूसरे दुकानदारों को भी प्रेरणा मिलती है। इस अभियान में थोड़ी-बहुत टूट-फूट भी हो सकती है, नासमझी के कारण खेंचातानी भी हो सकती है। अच्छा हो कि स्वयंसेवक सावधानी से काम करें, क्योंकि हमारा उद्देश्य लोगों को कष्ट पहुंचाना नहीं, बल्कि उनकी मदद करना है। उचित तो यह है कि ऐसे अभियानों के पूर्व आन्दोलनकारी लोगों को अखबारों, पर्चों तथा भोंगा-प्रचार के द्वारा सूचना दे दें।

अपनी पूर्व-सूचना में आन्दोलनकारी एक काम और भी कर सकते हैं। वह यह कि अंग्रेजी के प्रचलित पदबंधों के दस-बीस हिन्दी नमूने बता दें। जैसे 'रामलाल एण्ड ब्रदर्स' का 'राम बन्धु', 'रामा स्टोर्स' का 'राम भंडार' आदि। एक तरह के कई नाम होते हैं। अतः बीस-तीस नमूनों से हजारों नामपटों को बदला जा सकेगा। वरना आजकल जल्दबाजी में लोग अंग्रेजी का नाम ज्यों का त्यों देवनागरी लिपि में लिख देते हैं। अंग्रेजी को पूरी तरह हटाने के लिए कुछ दिमागी मेहनत करनी पड़ेगी।

कभी-कभी आन्दोलनकारी हर उस चीज को खत्म करने की कोशिश करते हैं जिस पर अंग्रेजी में कुछ लिखा हो। यह ठीक नहीं। यदि ऐसा करेंगे तो सारी घड़ियों, रेडियो, कलमों तथा दूकानों की दुकानों को नष्ट करना पड़ेगा। यहां इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना है कि

हमारा उद्देश्य लोगों को बताना है कि स्वयं जो भी कार्य करें वह अंग्रेजी में न हो। घड़ियों, रेडियो, मोटरों तथा कलमों पर लोगों की मर्जी से तो अंग्रेजी के नाम वगैरह नहीं खुदते। ये तो कारखानेदारों की गलती से होता है। अतः कारखानेदारों को ही इस काम के लिये जिम्मेदार ठहराना चाहिये। हाँ, लोग नामपट, रसीद, पावती वगैरह पर स्वयं अंग्रेजी में लिखवाते हैं। अतः इन चीजों पर सीधी कार्यवाही होनी चाहिये। कारखानों पर भी सीधी कार्यवाही करना चाहिये।

## वस्तु की हिंसा, हिंसा नहीं

जहां तक अंग्रेजी की मुद्रक और दुरमुद्रक मशीनों को तोड़ने तथा अंग्रेजी विक्रय-चिन्हों वाली चीजों की होली जलाने का प्रश्न है, अच्छा हो कि स्वयं सेवक स्वेच्छा से उपरोक्त प्रकार का सामान इकट्ठा करें और चौराहों पर 'सांकेतिक' होली जलायें। सम्मेलन ने तो यह प्रस्ताव पारित किया है कि उपरोक्त प्रकार का सामान जहां भी दिखे, उसे तोड़ें और जलायें लेकिन मैंने 'सांकेतिक' शब्द के लिए विशेष अनुरोध किया है।

इसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि वह गंभीर कदम उठाने से पहले हम लोगों को अपना ही सामान फूंककर आगाह तो कर दें ताकि बाद में उनको शिकायत न रहे। इसमें हमें कोई शक नहीं है कि भारत में अंग्रेजी का इस्तेमाल शोषण के हथियार के रूप में किया जा रहा है। और शोषण के विरुद्ध हर तरह से लड़ना हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। अतः अंग्रेजी को बनाये रखने और चलाये रखने के लिए जितने साधन, जहां भी होंगे, उन्हें बेरहमी से खतम करना, हटाना बेहद जरूरी है। अंग्रेजी अखबार, अंग्रेजी मुद्रक और दूरमुद्रक मशीनें इसी प्रकार के साधन हैं। इन्हें खतम करने को हिंसा नहीं समझना चाहिये। अच्छा हो कि हम प्राणी की हिंसा और वस्तुओं की हिंसा में अन्तर करें। प्राणियों को कम से कम कष्ट पहुंचाते हुए गुलाम बनाये रखने वाली वस्तुओं का अधिक से अधिक सफाया करना हमारे आन्दोलन का केन्द्रीय कार्यक्रम है।

## अपनी लगाम खुद सम्भालो

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन का संगठन आम संगठनों जैसा नहीं है। यह कोई राजनैतिक दल नहीं है, आन्दोलन है। यह सत्ताभिमुख नहीं है, जनाभिमुख है। इसका काम सत्ता प्राप्त करना नहीं, जनता को जगाना है (सरकार तो जागेगी ही)! इसीलिये आन्दोलन के संचालकों की इच्छा है कि स्थानीय समितियों को केन्द्रीय आदेशों पर बहुत अधिक अवलम्बित नहीं रहना चाहिये। वे स्वतः स्फूर्ति के द्वारा आन्दोलन चलायें।चिनगारी एक जगह से उड़े और दूसरी जगह गिरे तथा इस तरह भाषायिक स्वतंत्रता की ज्वाला सारे देश में फैल जाये।

सम्मेलन की स्थानीय समितियों को सम्पूर्ण आंदोलन के छिड़ जाने तक चुप नहीं बैठना है। उनको चाहिये कि केन्द्रीय दफ्तर से प्राप्त अंग्रेजी हटाओ साहित्य को लोगों में बांटें और उस पर सगुण और ठोस बहस चलायें। विचार की ताकत सबसे बड़ी होती है। समिति की

ओर से विभिन्न कारखानेदारों, नौकरशाहों, शिक्षकों तथा अन्य लोगों को पत्र लिखे जाना चाहिये, जिनमें समझाइश और चेतावनी दोनों होना चाहिये। आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिए सभी व्यवसायों के लोगों को उसमें शामिल करना चाहिये।

जनता के समक्ष यह बात स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह आन्दोलन किसी राजनैतिक दल की स्वार्थसिद्धि का साधन नहीं है, बल्कि यह राष्ट्रीय आत्मा के पुनर्जागरण और स्वयं को पहचानने के लिये किया गया सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रयास है। इसका मतलब यह नहीं कि यह आंदोलन राजनैतिक दलों के सहयोग की अपेक्षा नहीं करता। यह आन्दोलन देश के सभी संगठित और असंगठित वर्गों का आव्हान करता है कि वे आयें और गुलामी के गढ़ों को ढहाने में सहयोग प्रदान करें।

## बहिष्कार कीजिए

जनता को जगाने के लिये सम्मेलन की समितियां आन्दोलनात्मक काम तो करेंगी ही, लेकिन जो लोग जागे हुए हैं उनसे हमारा अनुरोध है कि वे अपने काम काज में अंग्रेजी का बहिष्कार जरा पूरे मन के साथ करें। अपने पत्र-व्यवहार, दस्तखत, निमंत्रण पत्र आदि तक के मामलों में उन्हें अपनी मातृभाषाओं का प्रयोग सख्ती से करना चाहिये।

जो भाई-बहन शिक्षा के क्षेत्र में हैं, उन्हें अपना अध्यापन कार्य एकदम भारतीय भाषा में शुरू कर देना चाहिये तथा अपनी भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें लिखने और विदेशी भाषा की पुस्तकों का अनुवाद करने की जिम्मेदारी भी लेना चाहिये। वकील लोग उच्च न्यायालयों में पक्षकार की भाषा में बहस शुरू करें, इससे अंग्रेजी का जादू-टोना खत्म होगा और जनता को न्याय-व्यवस्था की सच्ची प्रतीति होगी। विज्ञान और चिकित्सा के क्षेत्र में भी कुछ लोगों को संकल्प करके आगे बढ़ना होगा अन्यथा आन्दोलन का पूरा लाभ नहीं मिलेगा। विश्वविद्यालय में अंग्रेजी यदि भाषा के रूप में पढ़ाई जाये और कुछ लोग उसे स्वेच्छा से ग्रहण करें तो हमें कोई आपत्ति नहीं हैं, लेकिन वह नौकरी और रुतबे के हथियार के रूप में इस्तेमाल नहीं की जानी चाहिये। जब विदेशी भाषाओं में से केवल अंग्रेजी को पढ़ाया जाता है तो उसके पीछे नौकरी और रुतबे हड़पने की गुपचुप साजिश रहती है, बाहरी ज्ञान से स्पर्श करने की इच्छा नहीं के बराबर होती है। अच्छा हो कि विश्वविद्यालयों में एशिया और अफ्रीका की भाषाएं भी अच्छे ढंग से पढ़ाई जाएं। इस बात के लिये स्वयं विश्वविद्यालय के अधिकारियों को सोचना चाहिये, अन्यथा छात्र लोग आन्दोलन चलाने के लिये तो स्वतंत्र हैं ही।

सम्मेलन ने प्रादेशिक सरकारों से जोर देकर अनुरोध किया है कि वे अंग्रेजी पुस्तकों के प्रकाशन में राष्ट्रीय धन को बर्बाद न करके प्रान्तीय भाषाओं में उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण करवायें। व्यापारी यदि अपने देश में अपने माल की खपत बढ़ाना चाहते हैं तो उन्हें अपनी वस्तुओं पर विक्रय-चिन्हों में प्रादेशिक भाषाओं का इस्तेमाल करना चाहिये तथा विदेशों में खपत बढ़ाने के लिये उन्हीं देशों की भाषाओं में विक्रय-चिन्ह बनाना चाहिये न कि अंग्रेजी में। खरीददार अंग्रेजी चिन्ह वाले माल का बहिष्कार कर सकते हैं तथा उन चीजों को खरीदें जो दूसरे संस्थानों द्वारा भारतीय भाषाओं में अंकित करके बेचे जाते हैं तथा बाजार में सुलभ हैं।

# ये क्या कहते हैं?

अगर मेरे हाथों में तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आज से ही विदेशी माध्यम के जरिये हमारे लड़के और लड़कियों की शिक्षा बन्द कर दूँ और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूँ या उन्हें बरखास्त कर दूँ। मैं पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी का इन्तजार नहीं करूँगा। वे तो माध्यम के परिवर्तन के पीछे-पीछे चली आयेंगी। यह एक ऐसी बुराई है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए!

**महात्मा गांधी**

मेरी समझ में वे लोग बेवकूफ हैं जो अंग्रेजी के चलते हुए समाजवाद कायम करना चाहते हैं। वे भी बेवकूफ हैं जो समझते हैं कि अंग्रेजी के रहते हुए जनतंत्र भी आ सकता है। हम तो समझते हैं कि अंग्रेजी के होते यहाँ ईमानदारी आना भी असंभव है। थोड़े से लोग इस अंग्रेजी के जादू द्वारा करोड़ों को धोखा देते रहेंगे।

**डॉ. राममनोहर लोहिया**

भारत में अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा-प्रणाली चलाकर ब्रिटेन ने भारत का सबसे बड़ा नुकसान किया है। उसने भव्य लोगों की आत्माओं में हीनता की भावना भरकर उन्हें नकलची बना दिया है।

**डब्ल्यू.बी. यीट्स**

जब तक भारतीय संसद के वाद-विवाद अंग्रेजी में चलते रहेंगे, देश की राजनीति का जनता से कोई सरोकार नहीं होगा और वह एक छोटे-से वर्ग की बपौती बनकर रह जाएगी।

**गुन्नार मीर्डल**

भारत में भारतीय भाषाओं की सार्वजनिक प्रतिष्ठा के लिए अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन उतना ही आवश्यक और तर्कसम्मत है जितना कि स्वातंत्र्य-पूर्व युग में स्वदेशी की प्रतिष्ठा के लिए विदेशी वस्त्रों की होली जलाना!

**डॉ. धर्मवीर भारती**

# घोषणा

अंग्रेजी की अनिवार्य शिक्षा ने करोड़ों बच्चों को दिमागी तौर पर अपाहिज बना दिया है। दो प्रतिशत अंग्रेजीदाँ लोगों ने देश की सारी सुविधाओं पर कब्जा जमा रखा है। करोड़ों गरीब, ग्रामीण दबे-पिसे लोगों की दुनिया में अंधेरा ही अंधेरा है। उन्नति के सारे अवसरों पर यह अंग्रेजीदाँ वर्ग साँप की तरह कुंडली मारे बैठा है। हिन्दुस्तान में चल रहा अंग्रेजी का दबदबा समाजवाद और लोकतंत्र की हत्या का औजार है। अंग्रेजी ने आदमी और आदमी के बीच एक खाई बना दी है। अंग्रेजी के जरिए इस देश में एक फूहड़, निकम्मा और नकलची वर्ग तैयार हो रहा है, जो आम जनता से नफरत करता है। अंग्रेजी के जरिए इस देश के एक बहुत बड़े वर्ग को कमजोर और गरीब बनाये रखने और एक छोटे से वर्ग को ताकतवर और अमीर बनाये रखने का ब्रिटिश षड़यंत्र आज भी बड़ी बेशर्मी के साथ चल रहा है। अंग्रेजी का सार्वजनिक प्रयोग आम जनता के विरुद्ध एक आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक षड़यंत्र है। अंग्रेजी को हटाये बिना गरीबी हटायी नहीं जा सकती।

अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन इस षड़यंत्र के विरुद्ध हिन्दुस्तान के संकल्पशील युवजनों का एक जीता-जागता आन्दोलन है। यह किसी परम्परागत विचारधारा या राजनैतिक दल-विशेष का आन्दोलन नहीं है, न ही यह अंग्रेजी भाषा और साहित्य के स्वेच्छया अध्ययन-अध्यापन का विरोधी है, बल्कि यह मनुष्य मात्र को उसकी आत्माभिव्यक्ति के अधिकार को दिलाने का आन्दोलन है। इसके द्वार सबके लिए खुले हैं। जो चाहे सो आये।

## उद्देश्य

* भारत के सार्वजनिक जीवन से अंग्रेजी के रुतबे को खत्म करना।
* न्याय, प्रशासन और शिक्षा के क्षेत्र में अनिवार्य अंग्रेजी के विरुद्ध एक जोरदार संघर्ष करना।
* अंग्रेजी के स्थान पर सभी भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठित करना।
* एक ऐसे समाज का निर्माण करना, जिसमें छोटे से छोटा आदमी भी बड़े से बड़े पद पर अपनी भाषा के माध्यम से पहुँच सके।

# कार्यक्रम

१. राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्रियों, मंत्रियों, संसद्सदस्यों और विधायकों से अनुरोध किया जाय कि वे अंग्रेजी में भाषण न दें। अगर दें तो उनका डटकर विरोध किया जाय। उन्हें काले झंडे दिखाए जायं।

२. सरकार से आग्रह किया जाय कि वह अंग्रेजी माध्यम के पब्लिक स्कूलों को बन्द करे। पब्लिक स्कूलों के विरूद्ध प्रदर्शन किये जायं, धरने दिये जायं और इनके विरूद्ध जन चेतना जगाई जाय।

३. अंग्रेजी नामपट पोते जायं। स्थानीय भाषाएं उन पर लिखवाई जायं।

४. लोगों से अनुरोध किया जाय कि वे अपने कार्यक्रमों के निमंत्रण-पत्र अंग्रेजी में न भेजें। जिन कार्यक्रमों के निमंत्रण अंग्रेजी में आयें, उनका बहिष्कार करें।

५. अंग्रेजी की अनिवार्य पढ़ाई के विरुद्ध स्कूलों और कालेजों में प्रदर्शनों और धरनों का आयोजन करें।

६. अपना सारा काम-काज अपनी भाषा में करें। अंग्रेजी पत्रों का जवाब भी अपनी भाषाओं में दें।

७. दुकानदारों और कारखानेदारों से आग्रह किया जाय कि वे अपनी चीजों पर विक्रय-चिन्ह अंग्रेजी में अंकित न करें। आगे जाकर अंग्रेजी विक्रय-चिन्ह वाली चीजों की होली भी जलाई जा सकती है।

८. दुकानदार अपनी पावती-रसीद आदि क्षेत्रीय भाषाओं में छपायें।

९. स्कूल-कालेजों में वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के विषय ऐसे रखवाये जायं जिनसे लोकभाषाओं का महत्व स्थापित हो और अंग्रेजी के षड्यंत्र का भंडाफोड़ हो।

१०. अपने-अपने क्षेत्र में 'अंग्रेजी हटाओ' कार्यक्रमों और नारों के दीवाल-पर्चे चिपकाएं। अंग्रेजी हटाओ साहित्य छपाएं, बेचें और बांटें।

११. अपनी बोलचाल में अंग्रेजी शब्दों का अनावश्यक प्रयोग न करें। अपनी मातृभाषा में अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दों को लाने का प्रयत्न करें।

इस पुस्तिका के लेखक डॉ० वेदप्रताप वैदिक को भारतीय भाषाओं की लड़ाई का प्रतीक माना जाता है। उन्होंने 1966 में अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का शोध-ग्रन्थ हिन्दी में लिखने का आग्रह किया था। उन्हें "स्कूल ऑफ इन्टरनेशनल स्टडीज" से इसी कारण निकाल दिया गया था।

उनके सवाल पर सर्वश्री डॉ० राममनोहर लोहिया, अटलबिहारी वाजपेयी, आचार्य कृपलानी, हीरेन मुखर्जी, चन्द्रशेखर, भागवत झा आजाद, मधु लिमये, जार्ज फर्नांडीज, प्रकाशवीर शास्त्री आदि ने संसद को हिला दिया था। डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० जाकिर हुसैन, पं० दीनदयाल उपाध्याय और श्री रामधारी सिंह दिनकर जैसे मनीषियों का भी उन्हें आशीर्वाद प्राप्त रहा। लगभग सभी राजनैतिक दलों ने उनका समर्थन किया था। भारतीय भाषाओं के इस अनूठे संघर्ष की गूंज देश के कोने-कोने में सुनाई पड़ी थी।

डॉ० वैदिक का जन्म 30 दिसम्बर 1944 को इंदौर में हुआ। वे सदैव प्रथम श्रेणी के छात्र रहे। दर्शन और राजनीतिशास्त्र उनके मुख्य विषय थे। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में उन्होंने पी-एच० डी० किया, जवाहरलाल नेहरू वि०वि० से। चार साल तक उन्होंने दिल्ली में राजनीति शास्त्र का अध्यापन भी किया।

अपने अफ़गानिस्तान संबंधी शोधकार्य के दौरान श्री वैदिक को न्यूयार्क के कोलम्बिया वि०वि०, लंदन के प्राच्य विद्या संस्थान, मास्को की विज्ञान अकादमी और काबुल वि०वि० में अध्ययन का विशेष अवसर मिला। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञों में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होंने लगभग पचास देशों की यात्रा की है। वे संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, रूसी और अंग्रेजी के जानकार हैं। वे अपने मौलिक चिन्तन और प्रभावशाली वक्तृत्व के लिए विख्यात हैं।

अंग्रेजी पत्रकारिता के मुकाबले हिन्दी में बेहतर पत्रकारिता का युगारंभ करनेवालों में डॉ० वैदिक का नाम अग्रणी है। 1958 में प्रूफ रीडर के तौर पर वे पत्रकारिता में आये। वे 12 वर्ष तक "नवभारत टाइम्स" में रहे, पहले सहसम्पादक और फिर सम्पादक (विचार)के पद पर। आजकल वे प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया की हिन्दी समाचार समिति "भाषा" के सम्पादक हैं।

अफ़गान विदेश नीति, भारतीय विदेश नीति, श्रीलंका की तमिल समस्या और हिन्दी पत्रकारिता पर प्रकाशित डॉ० वैदिक के ग्रन्थों को अपने विषय की प्रामाणिक रचनाएं माना जाता है।

वैदिक जी छोटी उम्र से ही राजनीति में सक्रिय रहे। कुर्सी के बजाय उन्होंने परिवर्तन की राजनीति को सदैव प्राथमिकता दी। 13 वर्ष की आयु में भाषा के प्रश्न पर उनकी पहली जेल यात्रा हुई। उसके बाद तो भाषा तथा छात्र आंदोलनों में उन्हें अनेक बार मध्य प्रदेश और दिल्ली की जेलों में रहना पड़ा। उनका विश्वास है कि भाषाई आजादी के बिना हमारी राजनैतिक आजादी अधूरी है।

---

सम्पर्क : ए-19, प्रैस एन्क्लेव, नई दिल्ली - 110017; दूरभाष : 667295.